(हिन्दी संकलन प्रकाशन क्रमांक-

अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा

सामान्य हिन्दी संकलन

[भाग—३]

[बी. ए. / बी. एससी. / बी. कॉम. तृतीय वर्ष]



अधिकृत प्रकाशक एवं मुद्रक

सरोज प्रकाशन

६४६ कटरा, इलाहाबाद-२

(हिन्दी संकलन प्रकाशन क्रमांक–७)

अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा

सामान्य हिन्दी संकलन

[भाग—३]

[बी. ए. / बी. एससी. / बी. कॉम. तृतीय वर्ष]



अधिकृत प्रकाशक एवं मुद्रक
सरोज प्रकाशन
६४६ कटरा, इलाहाबाद-२

प्रकाशक :
रजिस्ट्रार, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा द्वारा अधिकृत
रामचरन दास अग्रवाल
पार्टनर
सरोज प्रकाशन
६४६ कटरा, इलाहाबाद-२

मूल्य : तीन रुपया पचहत्तर पैसा [३·७५]
प्रथम संस्करण : जून १९७०

मुद्रक :
टी० पी० आई० प्रिंटर्स
६०९ डी० ममफोर्ड गंज
इलाहाबाद-२

'अभिस्वीकृति'

प्रस्तुत संकलन सामान्य हिन्दी संकलन भाग--३ बी०ए०/बी०एससी०/बी० काम तृतीय वर्ष के विद्यार्थियों हेतु विश्वविद्यालय द्वारा तैयार कराया गया है। इस संकलन में जिन लेखकों/कवियों की रचनाओं का संग्रह किया गया है उनके प्रति हम विश्वविद्यालय की ओर से आभार प्रदर्शित करते हैं।

संकलन की संरचना एवं भूमिका लेखन में डा० शंकर लाल, सहायक प्राध्यापक महाराज, कालेज, छतरपुर ने जो अमूल्य सहयोग प्रदान किया है उनके प्रति हम विशेष रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। आशा है यह संकलन छात्रों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

अ० प्र० वि० रीवां
जून १९७०

कुलसचिव

अनुक्रमणिका

आमुख

परिष्कृत एवं बहु-विधा-समर्थ गद्य विकासशील साहित्य की कसौटी है। साहित्य की जितनी विधाओं का विकास गद्य के माध्यम से संभव है उतना पद्य के माध्यम से नहीं। अभिव्यक्ति के सर्वाधिक व्यावहारिक एवं बहुमुखी माध्यम के रूप में गद्य हमारे सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहक है। प्राचीन साहित्यकारों ने भले ही इसे श्रव्यकाव्य का एक भेद मात्र माना हो, आधुनिक काल में तो यह निश्चित रूप से हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन तथा अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम है।

भामह,[1] दण्डी,[2] वामन[3] और विश्वनाथ[4] आदि आचार्यों ने मूल रूप से गद्य को काव्य का ही एक रूप माना है और इसके अन्तर्गत आख्यायिका, वृत्त, कथा आदि का ही उल्लेख किया है। काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में समास शैली के आधार पर, गद्य की मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक आदि प्रभेदों के रूप में संक्षिप्त व्याख्या मिलती है, किन्तु विचार-प्रधान निबन्धों अथवा शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयों के प्रतिपादन के लिये साहित्यिक माध्यम के रूप में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

सामान्य जीवन में बातचीत के माध्यम के रूप में गद्य का प्रयोग अवश्य प्राचीन काल से होता आ रहा है, किन्तु संसार के सभी साहित्यों में सुगठित गद्य का विकास पद्य की अपेक्षा बहुत देर से हुआ है। काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिये संवेदनशील हृदय और सीमित, भाव-प्रवण भाषा की ही आवश्यकता

---

१. काव्यालंकार, १,२५। २. काव्यादर्श, १,१३। ३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, । १,३,२१। साहित्य दर्पण, ६:३३०-३३१।

होती है किन्तु गद्य के विकास के लिये गंभीर मनन, चिन्तन, तार्किक बुद्धि और सक्षम तथा सुस्पष्ट भाषा की आवश्यकता होती है और ये सभी तत्व मनुष्य के सामाजिक जीवन में धीरे धीरे विकसित होते हैं। हमारे सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ गद्य की उपयोगिता भी बढ़ती गई है और व्यावहारिक जीवन में ही प्रधान न रह कर गद्य ने क्रमशः साहित्य के क्षेत्र में भी अधिकांश विधाओं पर अधिकार कर लिया है। आज हम इतिहास, धर्म, राजनीति, शिक्षा, विज्ञान आदि विषयों के प्रतिपादन के लिये तो गद्य का प्रयोग करते ही हैं, आलोचना, नाटक, कहानी, निवन्ध, प्रवन्ध आदि भी अब गद्य में ही लिखे जाते हैं और तद्नुरूप गद्य की अनेक शैलियों का विकास हुआ है और होता जा रहा है।

साहित्यिक एवं सुगठित रूप में हिन्दी गद्य का सूत्रपात आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हुआ। इसके पहले भी सन् १७४० और १८०० के वीच रामप्रसाद 'निरंजनी,' दौलतराम, मथुरानाथ शुक्ल, सदासुखलाल 'नियाज', इन्शा अल्ला खाँ, लल्लू लाल और सदल मिश्र ने तत्कालीन व्रजभाषा-मिश्रित वोलचाल की खड़ी वोली में गद्य रचनायें कीं; किन्तु रचना-सौष्ठव, भाषा और शैली की दृष्टि से वे आरम्भिक रचनायें ही थीं। हिन्दी गद्य का कोई स्पष्ट रूप उनमें उभरता नजर नहीं आता।

सन् १८०० से १८५८ के वीच उत्तर भारत में शिक्षण संस्थाओं में पठन पाठन की सुविधा के लिये इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, गणित और विज्ञान के साथ साथ स्त्री-शिक्षा से सम्वन्धित उपयोगी पुस्तकों की रचना तो हुई ही, प्रेस के विकास के फलस्वरूप "उदन्त मार्तण्ड" "वंगदूत", "प्रजामित्र," "वनारस अखवार," "समाज-सुधा-वर्षण," आदि कई समाचार पत्रों का भी प्रकाशन आरम्भ होने से हिन्दी गद्य को विकास की नई दिशायें मिलीं।

इसी काल में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत हिन्दी को विशेष स्थान प्राप्त हुआ जिससे हिन्दी गद्य को नया प्रोत्साहन मिला।

फोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दी-उर्दू के अध्यापक गिलक्राइस्ट थे। सिरामपुर के ईसाई मिशनरियों ने भी धर्म-प्रचार के हेतु हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित कराई। हिन्दी गद्य के विकास में फोर्ट विलियम कालेज से ही आरम्भ हुए उर्दू-हिन्दी के विवाद ने भी हिन्दी गद्य के स्वरूप को नयी दिशायें दीं। यह विवाद क्रमशः इतना वढ़ गया कि हिन्दी गद्य की दो धारायें चल निकलीं। राजा शिवप्रसाद (सन् १८२३-१८६५) ने भाषा का अरबी-फारसी मिश्रित रूप प्रचलित किया और राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृतनिष्ठ विशुद्ध हिन्दी को ही साहित्य के योग्य मान कर उसका प्रचार आरंभ किया।

सन् १८५७ के वाद से ही आर्य समाज ने भी जोर पकड़ा। धर्म प्रचार हेतु आर्य समाजियों ने भी हिन्दी में वहुत काम किया। इन सभी साथ साथ चलने वाले आन्दोलनों के फलस्वरूप सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में एक नयी साहित्यिक चेतना का उदय हुआ किन्तु अभी तक हिन्दी गद्य के विकास ने संगठित प्रयास का रूप नहीं लिया था। अलग-अलग क्षेत्रों में कार्य तो हो रहा था किन्तु हिन्दी भाषा एवं गद्य के विकास के इन प्रयासों में कोई एकसूत्रता नहीं थी। ऐसे समय में आवश्यकता थी एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की जो इन विभिन्न प्रयासों को संगठित करके साहित्य की सभी विधाओं के उपयुक्त भाषा एवं गद्य शैली का विकास कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति की भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने।

भारतेन्दु (सन् १८५०-१८८५) ने हिन्दी गद्य के क्षेत्र में नवयुग का प्रवर्तन किया। वे अद्भुत प्रतिभावान थे और उनकी कार्यक्षमता भी अद्भुत थी। उन्होंने स्वयं कविता, नाटक, निवन्ध, प्रहसन एवं हास्य और व्यंग्य प्रधान रचनायें प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य और विशेष कर हिन्दी गद्य के क्षेत्र को व्यापक वनाया। उन्होंने हिन्दी गद्यकारों का मंडल वना कर हिन्दी लेखकों को संगठित प्रयास के लिये उत्साहित किया। भारतेन्दु काल के गद्य लेखकों में वालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, वद्री नारायण चौधरी, श्रीनिवास दास,

अम्बिकादत्त व्यास, पं० सुधाकर द्विवेदी, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, बालमुकुन्द गुप्त और पं० तोताराम प्रमुख थे।

सन् १८९३ ई० में "काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा" की स्थापना हुई और १९०० के लगभग प्रयाग से "सरस्वती" का प्रकाशन आरम्भ हुआ। हिन्दी गद्य के विकास में इन दोनों का महत् योगदान है। सन् १९०३ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" का सम्पादन अपने हाथ में लिया। द्विवेदी जी स्वयं लिखते थे, दूसरे लेखकों को प्रेरणा देते थे, उनके लेखों का संशोधन करते थे और नये नये लेखकों को "सरस्वती" द्वारा प्रकाश में लाते थे। उनके प्रयत्नस्वरूप इतिहास, भूगोल, विज्ञान, कला, समीक्षा और समाजसुधार आदि विभिन्न विषयों पर लेख, निबन्ध और ग्रन्थ लिखे गये। "सरस्वती" के माध्यम से द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य को व्यवस्थित, परिष्कृत, उदात्त एवं व्याकरण-सम्मत रूप दिया। उनका प्रभाव इतना व्यापक था कि हिन्दी गद्य के इस काल का नाम ही द्विवेदी-युग पड़ गया।

द्विवेदी जी के पश्चात् गद्य की प्रौढ़ता का काल आया, और उसमें गाम्भीर्य, स्पष्टता, अभिव्यक्ति क्षमता, माधुर्य, प्रवाह एवं प्रभविष्णुता का समावेश हुआ। द्विवेदी-युग एवं उसके परवर्ती काल में जिन साहित्यकारों ने हिन्दी गद्य का विकास किया उनमें पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, मिश्रबन्धु, श्याम सुन्दरदास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, शिवपूजन सहाय और चण्डीप्रसाद "हृदयेश" के नाम प्रमुख हैं। द्विवेदी-युग में ही प्रेमचन्द्र, जयशंकर प्रसाद और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखना प्रारंभ किया और क्रमशः अपनी रचनाओं से हिन्दी गद्य को नवीन गौरवशाली रूप दिया। अब तक हिन्दी गद्य की अनेक शैलियों का विकास हो चुका था।

छायावादी कवियों के प्रयास से द्विवेदी-युगीन गद्य भावुकता, आत्मपरकता, लाक्षणिकता, उक्तिवक्रता और प्रतीकात्मकता से संयुक्त हुआ। इस समय तक भाषा इतनी समर्थ, परिष्कृत और सुगठित हो चुकी थी कि हिन्दी गद्य में

साहित्य की सभी विधाओं का विकास आरम्भ हो गया। तब से लेकर आज तक यह विकासक्रम अक्षुण्ण बना हुआ है और अब तो ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति आदि सभी विषयों पर हिन्दी में तीव्र गति से कार्य हो रहा है। आधुनिक युग के सभी समीक्षकों, लेखकों एवं मनीषियों के कृतित्व का संक्षिप्त विवरण भी इस भूमिका के अन्तर्गत सम्भव नहीं।

इस समय हिन्दी में निम्नलिखित गद्य-विधायें प्रचलित हैं—

१—नाटक, २—उपन्यास, ३—कहानी, ४—निवन्ध, ५—आलोचना, ६—गद्यकाव्य, ७—पुरावृत्त, ८—जीवन वृत्त, ९—संस्मरण, १०—रेखाचित्र, ११—यात्रा-वर्णन, १२—पत्र साहित्य, १३—साक्षात्कार, १४—रिपार्ताज और १५—दैनन्दिनी। इस संकलन के विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रख कर इसके अन्तर्गत इन सभी विधाओं में से केवल तीन का समावेश किया गया है। ये विधायें है—निवन्ध, कहानी, और एकांकी नाटक।

निबन्ध

"निवन्ध" शब्द तो अवश्य प्राचीन है किन्तु आज जिस रचना को हम "निवन्ध" कहते हैं उसका स्वरूप सर्वथा नवीन और अधिकांश में पाश्चात्य साहित्य की देन है। "निवन्ध" की सर्वमान्य परिभाषा कठिन ही नहीं असम्भव है। पाश्चात्य साहित्य में विगत चार सौ से अधिक वर्षों में प्रस्तुत की गई निवन्ध रचनाओं में प्रतिपादित विभिन्न विषयों, भाषा, शैली और भावभंगिमा के सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात् भी समीक्षक या स्वयं लेखक "निवन्ध" के सभी आयामों को किसी भी परिभाषा के सीमित दायरे में नहीं बांध पाये। हिन्दी का "निवन्ध" शब्द अंग्रेजी के **Essay** का पर्यायवाची माना जाता है। **Essay** शब्द की व्युत्पत्ति प्राचीन फ्रेन्च शब्द **Essai** से मानी जाती है, जिसका अर्थ है किसी कार्य को करने का प्रयत्न या किसी विचार या विषय का परीक्षण[1]।

१—**Shorter oxford English Dictionary, Vol. I, Page 634**

इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार Essay शब्द का अर्थ हुआ किसी विषय विशेष के विश्लेषण अथवा प्रतिपादन का प्रयत्न। अंग्रेजी के मान्य शब्द कोषों में Essay की परिभाषा सामान्यतः "गद्य में किसी विशिष्ट विषय पर लिखी गयी संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित साहित्यिक रचना" के रूप में की गई है। यह परिभाषा सर्वमान्य तो नहीं किन्तु आधुनिक काल में "निर्बन्ध" या Essay नाम से अभिहित रचनाओं के प्रमुख गुणों को व्यक्त करती है। इस परिभाषा के अनुसार तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१—"निबन्ध" एक सुनियोजित गद्य रचना है।

२—यह किसी एक ही विषय से सम्बन्धित होती है।

३—यह संक्षिप्त होती है।

आधुनिक "निबन्ध" में संक्षिप्तता और विषय से कुछ न कुछ सम्बद्धता तो अवश्य होती है किन्तु उसका प्रमुख उद्देश्य विषय का पूर्ण या सर्वांगीण विश्लेषण या प्रतिपादन न होकर उस विषय पर लेखक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को संक्षेप में प्रस्तुत करना होता है। निबन्ध के स्वरूप के विकास के साथ-साथ विषय-पक्ष गौण होता चला आया है और उसका स्थान लेखक के व्यक्तित्व ने इस सीमा तक ले लिया है कि अधिकांश समीक्षक अब निबन्ध का एक मात्र उद्देश्य लेखक के व्यक्तित्व का उद्घाटन मानने लगे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार "निबन्ध" उसी रचना को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।[1] प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक वर्सफोल्ड ने लिखा है कि "निबन्ध" का परिचय उसके बाह्य रूप के लघुत्व में और उसमें वर्तमान विचार तत्व से मिलता है। विषय के विवेचन का कोई एक केन्द्र होता है किन्तु कृतिकार की व्यक्तिगत रुचि और अरुचि इसमें जितने महत्वपूर्ण रूप से व्यक्त होती है उतनी किसी विषय पर लिखे गये विषय

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६०५-६।

परक प्रवन्ध अथवा पूर्ण ग्रन्थ में नहीं होती है।[२] डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने "निवन्ध" की परिभाषा इस प्रकार की है—"तर्क और पूर्णता का अधिक विचार न रखने वाला गद्य-रचना का वह प्रकार निवन्ध कहलाता है जिसमें किसी विषय अथवा विषयांश का लघु-विस्तार में स्वच्छन्दता एवं आत्मीयता पूर्ण ढंग से ऐसा कथन हो कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व झलक उठे।[३]

आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में निवन्ध का जन्मदाता माइकल-द-मौन्तेन (सन् १५३३-९२) माना जाता है। सन् १५८० में प्रकाश में आई अपनी रचनाओं को उसने सर्व प्रथम (Essay) नाम दिया। मौन्तेन के निवन्ध सरल तथा व्यावहारिक विषयों पर हैं। उनकी शैली वैयक्तिक, व्यावहारिक, विविधतापूर्ण एवं सरल है। विषय-प्रतिपादन में गंभीरता न होकर आत्मीयता अधिक है।

मौन्तेन की मृत्यु के पांच ही वर्ष वाद इंगलैंड में फ्रेंसिस बेकन (१५६१-१६२६) ने अपने दस निवन्धों का एक संग्रह निकाला। सन् १६१२ और सन् १६२५ के संस्करणों में उसने निबन्धों की संख्या बढ़ा दी। बेकन ने भी सामान्य और व्यावहारिक विषयों ही पर निवन्ध लिखे, किन्तु उसका विषय-प्रतिपादन, संक्षिप्त होते हुए भी गम्भीर और विषयपरक है। कालान्तर में अंग्रेजी निवन्ध के स्वरूप में वड़ी विविधता आई। उन्नीसवीं शताब्दी में चार्ल्स लेम्ब ने निवन्ध को पूर्णतया आत्मपरक बना दिया। आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में निवन्ध के नाना स्वरूप और नाना शैलियाँ हैं।

हिन्दी में निवन्ध का प्रारम्भ स्वतन्त्र गद्य-विधा के रूप में उन्नीसवीं शताव्दी के उत्तरार्ध में हुआ। हिन्दी का प्रथम निवन्धकार कौन था? कहा नहीं जा सकता। इतना स्पष्ट है कि साहित्यिक विधा के रूप में निवन्ध सर्व

२—Judgment In Literature, Page 105.

३—आदर्श निबन्ध, पृष्ठ-९।

प्रथम भारतेन्दु युग में प्रकाश में आया। स्वयं भारतेन्दु ने इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, स्त्री सुधार, साहित्य-समीक्षा आदि विषयों पर अनेक निवन्ध लिखे। भारतेन्दु काल के अन्य प्रमुख निवन्धकार वालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, वद्रीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या थे। भारतेन्दु युग के इन निवन्धकारों ने हास्य और व्यंग्य पूर्ण निवन्धों के साथ-साथ गम्भीर निवन्ध भी लिखे। भाषा और शैली की दृष्टि से प्रौढ़ न होते हुये भी इन निवन्धों में स्वाभाविक प्रवाह, व्यक्तित्व की छाप एवं विलक्षण युग-चेतना है।

द्विवेदी-युग के साहित्यिक नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। इस युग में हिन्दी निवन्ध अंग्रेजी निवन्ध शैली से प्रभावित हुये। आचार्य द्विवेदी ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध निवन्धकार फ्रेंसिस वेकन के निवन्धों का अनुवाद "वेकन-विचार-रत्नावली" के नाम से प्रकाशित किया। स्वयं द्विवेदीजी के कुछ प्रसिद्ध निवन्ध हैं "कवि और कविता" "कवि कर्त्तव्य" "उपन्यास" "नाटक" "कवियों की उर्मिला-विषयक-उदासीनता"। ये निवन्ध उपदेशात्मक हैं तथा सरल शैली में लिखे गये हैं। इस युग के अन्य निवन्धकार थे वालमुकुन्द गुप्त, माधव प्रसाद मिश्र, राजा राधिकारमण प्रतापसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और अध्यापक पूर्णसिंह। भावात्मक निवन्ध लिखने में सरदार पूर्णसिंह अप्रतिम थे।

सन् १६२० से १६४० तक का काल हिन्दी-निवन्ध का उत्कर्ष काल था। इस युग का नेतृत्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। वे श्रेष्ठ आलोचक और निवन्धकार थे। शुक्ल जी द्विवेदी जी के समय से ही साहित्य के क्षेत्र में आये और धीरे-धीरे सम्पूर्ण साहित्य क्षितिज पर छा गये। उनके निवन्ध दो प्रकार के हैं—मनोभाव सम्वन्धी और समीक्षात्मक। दोनों ही प्रकार के निवन्धों में उनकी शैली गम्भीर और भाषा गठी हुई है। थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक से अधिक विचार व्यक्त करने में वे अप्रतिम हैं। उनके शब्द नपे तुले और उपयुक्त हैं। उनके वाक्य साधारणतः छोटे, सूत्ररूप और अर्थ-सम्पृक्त हैं किन्तु जहाँ

विषय-विश्लेषण गम्भीर हो गया है उन्होंने लम्बे किन्तु संतुलित वाक्यों का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा, परिष्कृत, प्रौढ़, विषयानुकूल और प्रभावशाली है। उनके विषय प्रतिपादन में भव्यता है। हिन्दी गद्य शैली एवं निबन्ध के विकास में उनका योगदान अभूतपूर्व है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ ही हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का विकास तीव्र गति से हुआ। शुक्ल जी के समकालीन अन्य निबन्धकार श्याम सुन्दरदास, रामकृष्ण दास, चतुर्भुज औदीच्य, यशोदानन्दन अखौरी, रामदास गौड़, माखनलाल चतुर्वेदी, रघुवीरसिंह आदि थे। इन सभी निबन्धकारों ने निबन्ध की इतिवृत्तात्मक, विचार प्रधान तथा भाव प्रधान शैलियों का विकास किया, और सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, समीक्षात्मक, आत्मचरितात्मक, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक निबन्ध लिखे।

बीसवीं शताब्दी के पंचम दशक में हिन्दी निबंध ने पूर्णतया आधुनिक स्वरूप प्राप्त कर लिया और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियाराम शरण गुप्त, सद्गुरुशरण अवस्थी और हजारीप्रसाद द्विवेदी के विविध शैलियों में लिखे गये निबंध पत्रिकाओं के पत्रों से सिमट कर महत्वपूर्ण संकलनों के रूप में प्रकाशित हुये। हिन्दी निबंधों की यह प्रवहमान धारा अनवरत रूप से बढ़ती चली जा रही है और जैनेन्द्रकुमार, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, धीरेन्द्र वर्मा, नगेन्द्र, विद्यानिवास मिश्र और हरि शंकर परसाई आदि प्रमुख लेखकों के साथ अनेक नये लेखक हिन्दी निबंध विद्या के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

इस सम्पूर्ण विकास के बावजूद हिन्दी में अभी भी उच्च कोटि के वैज्ञानिक निबन्धों का अभाव बना हुआ है। द्विवेदी युग में कुछ वैज्ञानिक निबन्ध लिखे गये थे किन्तु उस धारा का प्रवाह विकसित न हो सका और वह क्षीण ही बनी रही। इधर शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जाने से विज्ञान के जानेमाने पंडितों का ध्यान फिर इस क्षेत्र की ओर आकर्षित हुआ है और आशा है कि

जल्दी ही हिन्दी निबंध की यह उपेक्षित धारा भी विस्तीर्ण और गम्भीर होगी।

कहानी

गद्य की सभी विधाओं में कहानी सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है। वैसे तो कहानी कहने अथवा सुनने की प्रथा अति प्राचीन है किन्तु कहानी के स्वरूप का बहुमुखी विकास आधुनिक साहित्य में ही हुआ है। निवन्ध की भाँति कहानी की भी ऐसी परिभाषा दुर्लभ है जिसमें कहानी के सभी गुणों और स्वरूपों का समावेश हो। अमर कहानीकार प्रेमचन्द के अनुसार "कहानी एक ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। कथा वृत्त से सम्बन्धित चरित्र, उसकी शैली और उसका विन्यास सभी उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहत् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता।"

अमेरिकन कहानीकार एडगर एलेन पो के अनुसार कहानी एक निश्चित प्रकार का वर्णनात्मक गद्य है जिसके पढ़ने में आध घन्टे से लेकर एक घन्टे तक का समय लगता है। उन्होंने कहानी के अन्तर्गत घटनाओं के संगुम्फन, निश्चित उद्देश्य एवं प्रभाव की एकता पर भी वल दिया है। अंग्रेजी उपन्यास लेखक और आलोचक ई० एम० फास्टर का मत है कि कहानी परस्पर सम्बद्ध घटनाओं का वह क्रम है जो किसी परिणाम पर पहुँचा देती है।

कथा साहित्य के वड़े रूप उपन्यास की तरह कहानी के भी प्रमुख तत्व मूल संवेदना, कथानक, पात्र, वातावरण, शैली और उद्देश्य हैं। यद्यपि कहानी के ये सभी तत्व परस्पर उसी प्रकार अभिन्न है जैसे हमारे शरीर के अवयव और सभी प्रत्येक कहानी में न्यूनाधिक रूप में वर्तमान रहते हैं फिर भी किसी कहानी में मूल संवेदना, किसी में कथानक, किसी में पात्रों का चरित्र-विश्लेषण, किसी में वातावरण और किसी में शैली अथवा उद्देश्य की प्रधानता रहती है।

कहानी के इन विभिन्न तत्वों पर न्यूनाधिक बल देने के कारण ही आधुनिक कहानी में इतनी अधिक रूपात्मक विविधता दिखाई देती है। कभी-कभी तो कहानी को निवन्ध रिपोर्ताज़, संस्मरण या रेखाचित्र से अलग देखना भी कठिन हो जाता है।

हिन्दी में कहानी का आरम्भ गद्य के जन्म के साथ-साथ हुआ। श्री लल्लू-लाल, सदल मिश्र और इंशा अल्ला खाँ की रचनाएँ कथात्मक ही हैं। आरम्भ में कहानी कल्पना पर ही आधारित थी। उसमें केवल घटनाक्रम पर ही ध्यान दिया जाता था। वह मुख्य रूप से इतिवृत्तात्मक ही थी। सन् १८८७ में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की लिखी "प्रणयिनी परिणय" सम्भवतः हिन्दी की पहली कहानी थी जिसमें कुछ अंशों तक मौलिकता के साथ-साथ कहानी के सभी प्रमुख तत्वों का समावेश किया गया था। सन् १६०० से १६१५ तक का काल हिन्दी कहानी के विकास का प्रथम चरण था। इस काल के प्रमुख कहानीकार माधव प्रसाद सप्रे, माधव प्रसाद मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, गिरजादत्त बाजपेयी, बंग-महिला, रामचन्द्र शुक्ल, वृन्दावनलाल वर्मा, जयशंकर प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह और विश्वम्भर नाथ शर्मा "कौशिक" थे।

जयशंकर प्रसाद मूलतः रोमान्टिक कहानीकार थे; किन्तु उनके अन्तिम कहानी संग्रह में "इन्द्रजाल", "गुण्डा" आदि कहानियाँ ऐसी भी हैं जो यथार्थोन्मुख हैं। गुलेरी जी की केवल तीन कहानियाँ ही प्रकाश में आयीं, जिनके नाम "सुखमय जीवन", "बुद्धू का काँटा" और "उसने कहा था" हैं। कहानीकार के रूप में उन्हें अमर बनाने के लिये "उसने कहा था" ही यथेष्ठ सिद्ध हुई। राजा राधिकारमण ने मुख्य रूप से भावपूर्ण कहानियाँ ही लिखी हैं। विश्वम्भर नाथ शर्मा की प्रतिभा आदर्शोन्मुख थी।

सन् १६१६ में हिन्दी में प्रेमचन्द की पहली कहानी "पंच परमेश्वर" प्रकाशित हुई और इस प्रकार हिन्दी कहानी के विकास का दूसरा चरण

आरम्भ हुआ। प्रेमचन्द मूलतः आदर्शवादी थे किन्तु वे क्रमशः गांधीवादी और यथार्थवादी हो गये। भारतीय ग्रामीण जीवन का और मध्यवर्ग के गिरते हुए आदर्शों का प्रेमचन्द ने अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। भाषा और शैली की दृष्टि से प्रसाद और प्रेमचन्द की कहानियों में बड़ा अन्तर है, किन्तु दोनों की ही रचनाओं से हिन्दी साहित्य की अभूतपूर्व श्रीवृद्धि हुई। प्रसाद के कथानकों में घटनायें कम और स्थितियों के प्रति भावात्मक प्रतिक्रियायें अधिक हैं। पात्रों के स्थूल चरित्र की अपेक्षा प्रसाद का ध्यान उनकी भावनाओं के विश्लेषण की ओर अधिक गया। उनकी कहानियों में नाटकीयता का प्राधान्य है और भाषा संस्कृतनिष्ठ और शैली काव्यात्मक है। प्रेमचन्द के आकर्षण का केन्द्र व्यक्ति न होकर समाज था। उनकी आरम्भिक कहानियों में समाज सुधार पर वल दिया गया है। उनकी भाषा कुछ अंशों में उर्दू मिश्रित एवं साधारण वोलचाल की है। प्रसाद जी की अपेक्षा उनकी कहानियों मे घटनाक्रम और चरित्र का उत्तम समन्वय हुआ है।

सन् १६२७-२८ में जैनेन्द्र ने कहानी के क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने हिन्दी कहानी को एक नया दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक मोड़ दिया। जैनेन्द्र की कहानियों में मन का गहरा द्वन्द्व चित्रित हुआ है। मानव मन की उलझनों को व्यक्त करने के लिये उन्होंने कहानी की नयी शिल्प विधि तो अपनाई ही, एक नये प्रकार की भाषा का भी प्रयोग किया। उनकी भाषा कहती कम है सुझाती अधिक है। कहानियों के माध्यम से जीवनदर्शन की खोज का एक वुरा परिणाम भी हुआ। जैनेन्द्र की कहानियाँ क्रमशः कहानियाँ कम और निवन्ध अथवा लेख अधिक होती चलीं गईं।

जैनेन्द्र ने हिन्दी कहानी को सूक्ष्मता तो दी ही उन्होंने कहानी का क्षेत्र भी विकसित किया। जैनेन्द्र के समकालीन कहानीकारों में यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा और इलाचन्द्र जोशी प्रमुख हैं।

सन् १६३७ में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में 'अज्ञेय' का प्रवेश हुआ। जिस आधुनिक बोध की आजकल वहुत चर्चा है उसको कहानी के क्षेत्र में लाने का श्रेय वहुत कुछ 'अज्ञेय' को है। उनकी कहानी-कला मूल रूप से प्रयोगधर्मी रही है। उनकी आरम्भिक कहानियाँ रोमान्टिक हैं किन्तु धीरे-धीरे वे आधुनिक जीवन के यथार्थ की ओर उन्मुख होते गये हैं। मध्यवर्गीय जीवन की एकरसता एवं जीवन मूल्यों के वदलते हुए प्रतिमान उनकी प्रौढ़ कहानियों के विषय रहे हैं।

अज्ञेय के द्वारा प्रवर्तित प्रयोगवाद का सन् १६५० के वाद द्रुत विकास हुआ और जहाँ फणीश्वरनाथ रेणु, शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन और मनहर चौहान की कहानियों में आंचलिकता और रोमान्टिक यथार्थ का चित्रण हुआ है वहाँ मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, मन्नू भण्डारी, श्रीकान्त वर्मा, उषा प्रियम्वदा, आदि ने कहानी के क्षेत्र में नये प्रयोग किये हैं।

कहानी के क्रमिक विकास के फलस्वरूप उसके स्वरूप-विधान में तो परिवर्तन हुआ ही उसकी विषय-वस्तु और मूल संवेदना में भी क्रमशः परिवर्तन और विकास होता गया। हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक युग में आदर्शवादी या काल्पनिक कहानियाँ ही अधिक लिखी गईं। इसके पश्चात् कथा साहित्य का सुधारवादी रूप विकसित हुआ और नैतिक आदर्शों के समर्थन में ऐसी कहानियाँ लिखी गईं जिनमें गृहस्थ जीवन का आदर्शोन्मुख चित्रण किया गया था। नई राजनीतिक और सामाजिक चेतना के फलस्वरूप क्रमशः नये राजनीतिक और सामाजिक आदर्शों की कल्पना की गई और कहानियों को इन आदर्शों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाया गया। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के निकट सम्पर्क के कारण प्राचीन नैतिक मूल्यों को नई दृष्टि से देखा जाने लगा और इस प्रकार धीरे-धीरे कहानियों में रूढ़ नैतिकता एवं पारिवारिक आदर्शों के प्रति विद्रोह का स्वर मुखरित हुआ। मनोविज्ञान की नई मान्यताओं ने कुंठाओं और अव्यक्त भावनाओं को कहानी की मूल संवेदना के रूप में ग्रहण करने

को प्रेरणा लेखकों को दी। इस दिशा में पाश्चात्य कहानी लेखकों के प्रभाव ने भी वड़ा रोल अदा किया। नये कहानीकार मुख्य रूप से तनावों के कहानीकार हैं। आधुनिक जीवन में व्यक्ति और समाज और व्यक्ति-व्यक्ति के वीच में जो खाई पैदा हो गई है उसने हमारे पारस्परिक सम्बन्धों में तो तनाव पैदा किया ही है हमारे चेतन और अवचेतन मन के वीच भी तनाव, उत्पन्न कर दिया है। सारा जीवन इतना जटिल और यांत्रिक हो गया है कि प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति अपने आप में घोर अकेलेपन का अनुभव करता है। इस अकेलेपन की तीखी अनुभूति, तनावों के कारण टूटती हुई आस्थाएँ और यांत्रिकता के व्यामोह में फँसे मानव की जीवन के प्रति "क्लाउनिश" (Clownish) प्रतिक्रिया ही नई कहानी की मूल संवेदना या "थीम" (theme) है। विचार तत्व की प्रधानता के कारण नई कहानियों में कथा तत्व का क्रमशः लोप होता जा रहा है। कुछ कहानीकारों ने प्राचीन कथा शैलियों को नये रूप में अपना कर अपने कथ्य को अधिक व्यंग्यपूर्ण वनाने की चेष्टा की है। इस प्रकार के लेखकों में उर्दू से हिन्दी में आये किशन चन्दर और हिन्दी के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय लेखक हरिशंकर परसाई और शरद जोशी हैं।

एकांकी नाटक

एकांकी विशेषण से ही स्पष्ट है कि एकांकी नाटक एक ही अंक वाले अथवा संक्षिप्त नाटक होते हैं; किन्तु कोई भी अनेकांकी नाटक केवल संक्षिप्त कर देने से एकांकी नहीं हो जाता। एकांकी का अपना स्वरूप और उद्देश्य उसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति, संवेदना या समस्या प्रधान होती है और उसका स्वरूप अनेकांकी नाटक की अपेक्षा अधिक गठा हुआ होता है। डा० रामकुमार वर्मा ने एकांकी स्वरूप और उद्देश्य के विषय में लिखा है—एकांकी नाटक में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कुतुहल का संचय करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-

एक शब्द प्राण की ही तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पांच ही होते हैं जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना से सीधा रहता है। वहां केवल मनोरंजन के लिये अनावश्यक पात्र की गुंजाइश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की रूप रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भांति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भांति खिलकर पुष्प की भांति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं। घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य शरीर के हाथ पैरों के समान है जिसमें अनुपात विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की सृष्टि होती है। कथा वस्तु भी स्पष्ट और कुतुहल संयुक्त रहती है और उसमें वर्णनात्मकता की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्व की प्रधानता रहती है।[1]

एक अन्य एकांकीकार उपेन्द्रनाथ "अश्क" के अनुसार वड़े नाटक की तुलना में एकांकी जीवन के एक अंक का प्रथक, विच्छिन्न चित्र उपस्थित करता है, जीवन की एक झांकी मात्र देता है, विभिन्नता के वदले एकीकरण, विश्रंखलता के वदले एकाग्रता, पूर्णता के वदले अपूर्णता, फैलाव के वदले सिमटाव, विस्तार के वदले संक्षिप्तता इसके प्रमुख गुण हैं। एकांकी लेखक किसी मूलभूत संवेदना या विचार को उसकी सम्भावनाओं के साथ व्यक्त नहीं करता उसका संकेत मात्र करता है।[2]

अनेकांकी नाटकों में घटनाक्रम व्यापार और विविधता पूर्ण होता है किन्तु एकांकी नाटक का कार्य व्यापार संक्षिप्त और एकसूत्री ही होता है। अनेकांकी नाटकों में जीवन का विशद और सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया जाता है और एकांकियों में जीवन की किसी एक ही प्रमुख घटना या प्रसंग का चित्रण होता है। एकांकी की संक्षिप्तता के कारण एकांकी में कथावस्तु का संगठन चुस्त होना आवश्यक है। यदि ऐसा न हुआ तो नाटक की प्रभावात्मकता के कम हो जाने का डर वना रहेगा।

१—एकांकी कला, पृष्ठ ४१।

२—प्रतिनिध एकांकी, आमुख।

चूंकि एकांकी के सीमित क्षेत्र में जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिल कर उसके एक पहलू, घटना, परिस्थिति अथवा उद्दीप्त क्षण का अभिनेय रूप मिलता है। इस पहलू, घटना, अथवा परिस्थिति का केन्द्रीय और अर्थपूर्ण होना अति आवश्यक है और इसके सही चुनाव पर ही नाटक की सफलता निर्भर करती है। कथावस्तु के संक्षिप्त अथवा घटनाक्रम के एकनिष्ठ होने के बावजूद भी सफल एकाँकी उसी को कहा जा सकता है जो जीवन की समग्रता को संकेतित कर सके और मानव चरित्र से सम्बन्धित सार्वजनीन सत्य को उद्घाटित कर सके।

अभिनेयता सभी प्रकार के नाटकों का आवश्यक गुण है। जो नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किये जा सकते उन्हें नाटक कहना सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही उचित हो व्यावहारिक दृष्टि से उचित नहीं।

अनेकांकी नाटकों की भाँति एकाँकी के भी प्रमुख तत्व कथानक चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य हैं।

कहानी की भाति एकांकी नाटकों में भी कथा वस्तु के अन्तर्गत नाटक के कार्य-व्यापार को निरूपित करने वाले घटनाक्रम का संगठन आता है। इस घटना क्रम का विश्वसनीय और बुद्धिग्राह्य होना आवश्यक है। एकांकी के प्रभावशाली होने के लिये कथानक या घटनाक्रम का संयोजन इस प्रकार होना चाहिये कि दर्शकों का कौतुहल बना रहे।

कहानी की ही भाँति नाटकों में भी चरित्र-चित्रण का बड़ा महत्व है। कोई भी घटनाक्रम अथवा परिस्थिति स्वयं निर्मित नहीं होती। उसके निर्मायक मनुष्य ही होते हैं और इन मनुष्यों के क्रिया-कलापों का दिशा-निर्देश उनकी चारित्रिक विशेषताओं के द्वारा होता है। सफल एकांकी में मनुष्य की प्रमुख चारित्रिक विशेषताओं का निरूपण आवश्यक है। इसके साथ ही नाटक के सभी पात्रों का प्राणवान एवं व्यक्तित्व सम्पन्न होना भी आवश्यक है। चरित्र निरूपण के क्षेत्र में कहानीकारों की भाँति नाटककारों ने भी अनेक प्रकार के प्रयोगों द्वारा मानव चरित्र के सभी आयामों को आकलित करने का प्रयास किया

है। नाटक के उद्देश्य के अनुरूप नाटक के पात्र व्यक्ति, सामाजिक प्रतिनिधि या विशिष्ट सिद्धान्तों अथवा विचारों के प्रतीक मात्र हो सकते हैं।

एकांकी के सम्वाद संक्षिप्त, सोद्देश्य, स्वाभाविक एवं प्रत्युत्पन्न-मतित्व-सम्पन्न होना आवश्यक है। उनमें हास्य, व्यंग्य और गम्भीरता का पुट उन्हें जीवन्त और स्वाभाविक बनाता है। सम्वाद का पात्रोचित होना भी आवश्यक है।

एकांकी में घटनाक्रम और सम्वादों की सहायता से ही वातावरण की सृष्टि होती है। भाषा और शैली का भी इस दृष्टि से बड़ा महत्व है। अनेकांकी नाटकों की भांति एकाँकी नाटकों में भी वातावरण और भाषा शैली का नाटक की आत्मा के अनुकूल होना आवश्यक है। अनेक आधुनिक एकांकी नाटककारों का मत है कि एकांकी की सफलता के लिये प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य शास्त्रियों द्वारा अनुमोदित संकलन त्रय-देश, काल और कार्य-व्यापार की एकता आवश्यक है, किन्तु आधुनिक युग में ही ऐसे अनेक एकांकी उपलब्ध हैं जिनमें घटना या कार्य-व्यापार की एकता के अतिरिक्त और किसी प्रकार की एकता पर बल नहीं दिया गया है फिर भी वे बहुत प्रभावशाली हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में नाटक के जिन प्रकारों का उल्लेख मिलता है उनमें कई एक अंक वाले भी हैं। "दशरूपक" में रूपक के दस—प्रकार बताये गये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। इन दस प्रकारों में से पाँच—भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी और अंक, एक अंक वाले नाटक हैं। इसी प्रकार "साहित्य दर्पण" कार ने उपरूपक के अठारह प्रकार बताये है जिनमें से दस एक अंक वाले नाटक है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भी एक अंक वाले अथवा संक्षिप्त नाटक उपलब्ध थे। पाश्चात्य नाट्य साहित्य में भी मध्य युग के पूर्वार्द्ध में विकसित होने वाले "मिस्ट्री" "मिरेकिल्स", "मारलिटीज" और "इन्टरल्यूड्स" संक्षिप्त नाटक हुआ करते थे। कालक्रम में यही संक्षिप्त

पाँच अंकीय पूर्ण नाटकों के रूप में विकसित हुये और इन अनेकांकी नाटकों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि संक्षिप्त नाटक लुप्त ही हो गये। आधुनिक एकांकी मुख्य रूप से बीसवीं शताब्दी की देन हैं।

आधुनिक एकांकी स्वरूप और विन्यास की दृष्टि से प्राचीनकाल के संक्षिप्त नाटकों से बहुत आगे हैं। हिन्दी में एकांकी का उद्भव भारतेन्दु काल में ही हुआ। भारतेन्दु स्वयं संस्कृत के एक अंक वाले नाटकों से परिचित थे और उनके लिखे गये नाटकों में—पाखण्ड-विडम्बन, धनंजय-विजय, विषस्य विषमौषधम, भारतजननी और माधुरी को एकांकी की संज्ञा दी जा सकती है। भारतेन्दु के अतिरिक्त, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी और अम्बिकादत्त व्यास ने भी इस प्रकार के नाटकों की रचना की। भाषा, शैली, वस्तु विन्यास एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये नाटक आरम्भिक ही थे। उनमें नाटक के सभी तत्व संस्कृत नाटकों से ही लिये गये थे।

भारतेन्दु काल के बाद कुछ काल तक नाटक की विधा उपेक्षित रही। तदनन्तर बद्रीनाथ भट्ट, जी०पी० श्रीवास्तव, सुदर्शन और रामनरेश त्रिपाठी ने कुछ नाटकों की रचना की। इसी काल में बंगला और अंग्रेजी के कुछ नाटकों का अनुवाद भी हुआ और हिन्दी नाटककारों को नई प्रेरणा मिली।

सन् १९२९ में जयशंकर प्रसाद ने "एक घूंट" नामक नाटक की रचना की और हिन्दी एकांकी के विकास का युग आरम्भ हुआ। प्रारम्भ में अधिकांश एकांकी एक ही दृश्य के थे। प्रसाद का "एक घूंट" भी इसी परम्परा में आता है। धीरे-धीरे अनेक दृश्य वाले एकांकियों का विकास हुआ और विभिन्न स्थलों और कालों की घटनाओं द्वारा कथानक में वक्रता और विचित्रता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाने लगा। सन् १९३०-४० के आसपास भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्द दास आदि के एकांकी प्रकाशित हुए और हिन्दी गद्य की इस विधा का विकास द्रुत गति से हुआ।

आधुनिक युग में हिन्दी एकांकियों पर अंग्रेजी एकांकियों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इब्सन और उसके अनुयायी अंग्रेजी नाटककारों से प्रेरणा प्राप्त कर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्या मूलक नाटकों की रचना की और धीरे-धीरे रामकुमार वर्मा ने भी जिन्होंने पहले मुख्य रूप से ऐतिहासिक एकांकी लिखे थे सामाजिक और समस्या मूलक नाटक लिखे। उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्द दास, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द बल्लभ पंत, रामवृक्ष बेनीपुरी, भगवती चरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर और वृन्दावनलाल वर्मा भी इस क्षेत्र में आये।

आधुनिक हिन्दी एकांकी को नया और सक्षम रूप देने वालों में लक्ष्मी नारायण लाल, भारत भूषण अग्रवाल, विनोद रस्तोगी, अमृतलाल नागर, मोहन राकेश और धर्मवीर भारती प्रमुख हैं। विषय-वस्तु के आधार पर इस समय हिन्दी में सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, प्रगतिवादी, मनोवैज्ञानिक, हास्य एवं व्यंग्य प्रधान और प्रतीकात्मक एकांकी उपलब्ध हैं। शिल्प, वस्तु विन्यास, शैली एवं उद्देश्य की दृष्टि से हिन्दी एकांकी बहुत विकसित हो चुका है और इसके परिणामस्वरूप हिन्दी रंगमंच का विकास भी क्षिप्र गति से हो रहा है।

१—आत्मनिर्भरता

[पं० बालकृष्ण भट्ट]

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुष में पौरुषेयत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल में तूँबी के समान सबके ऊपर रहेंगे। ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है कि तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंग वाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहु-बल के आगे सब क्षीणबल हैं, वरन् आत्म-निर्भरता की बुनियाद यानी यह बाहु-बल सब तरह के बल को सहारा देने वाला और उभारने वाला है।

योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी खूबसूरती के साथ बन पड़ता है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे में प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले।

निरी किस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं, जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"देव-देव आलसी पुकारा।"

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक्की की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनियाँ इसके उदाहरण तो हैं ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम को करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता।

समाज के बंधन में भी देखिये तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी कानूनों के द्वारा वैसे नहीं हो सकते, जैसे समाज के एक-एक मनुष्य के अलग-अलग अपने संशोधन अपने आप करने से हो सकते हैं।

कड़े-से-कड़े कानून आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फिजूलखर्च को किफायतसार या परिमित व्ययशील, शराबी को परहेजगार, क्रोधी को शांत या सहनशील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पान्ध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को आढ्य, भीरु डरपोक को वीर-धुरीण, झूठे गपोड़िये को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधारी इत्यादि नहीं बना सकता; किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं।

सच पूछो तो जाति या कौम भी सुधरे हुए ऐसे ही एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति का एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारे, तो जाति-की-जाति या समाज-का-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल-वृद्ध-वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्धशिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है।

उसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक-एक आदमी का सुस्ती, कमानापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रेंड टोटल है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसे सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन।

जातीय गुणों या अवगुणों को गवर्नमेंट कानून के द्वारा रोक या जड़-पेड़ से नेस्तनाबूद नहीं कर सकती, वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ फिर से उभड़ आवेंगे वरन् पहले से ज्यादा तरोताजगी और सरसब्जी की हालत में हो जायेंगे। जब तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक अव्वल दर्जे का देशानुराग और सर्व-साधारण के हित की वांछा सिर्फ कानून के अदलने-बदलने से या नए कानून के जारी करने से नहीं पैदा हो सकती।

ज़ालिम-से-ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में रहकर कोई कौम गुलाम नहीं कही जा सकती, वरन् गुलाम वही कौम है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भांति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी कौम, जिसकी नस-नस में दास्यभाव समाया हुआ है, कभी तरक्की नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय, तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मजबूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्म-निर्भरता आदि गुणों पर स्थित है।

ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे की तालीम बिलकुल बेफायदा है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी बेहतरी न कर सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत है कि—"राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा असर नहीं पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति में अपने सुधार की अटल वासना दृढ़ता के साथ बद्धमूल है!"

पुराने लोगों से जो चूक और गलती बन पड़ी है, उसी का नतीजा वर्तमान समय में हम लोग भुगत रहे हैं। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिये यथा

जातीयता का भाव जाता रहा, एका नहीं है, आपस की हमदर्दी नहीं है इत्यादि। तव पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाये रखना हम क्योंकर अपने लिये उपकारी और उत्तम मानें। हम तो इसे निरी चंडूखाने की गप समझते हैं कि हमारा धर्म हमें आगे नहीं बढ़ने देता अथवा विदेशी राज से शासित हैं इसी से हम तरक्की नहीं कर सकते।

वास्तव में सच पूछो तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीं। यह सव हमारी वर्तमान दुर्गति उसी का परिणाम हैं, बुद्धिमानों का अनुभव हमें यही कहता है कि मनुष्य में पूर्णता विद्या से नहीं वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियों के पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्रों का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता आती है।

योरप की सभ्यता, जो आज-कल हमारे लिये प्रत्येक उन्नति की वातों में उदाहरणस्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जव कई पुश्त तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे खयाल और ऊँची वासनाओं की ओर प्रवल-चित्त रहा, तव वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हर एक फिरके, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन वाँध के वरावर अपनी-अपनी तरक्की में लगे हैं। नीच-से-नीच दर्जे के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे वाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ सवों ने मिलकर कौमी तरक्की को इस दर्जे तक पहुँचाया है। एक ने एक वात को आरम्भ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर सावित-कदम रखकर एक दर्जा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरान्त वह वात जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्धि की अवस्था तक पहुँच गई।

ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्वपुरुष अपनी भाग्यवान् भावी

संतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी मीरास या बपौती का उत्तराधिकारी बना गए थे।

आत्मनिर्भरता के संबंध में जो शिक्षा हमें खेतिहर, दूकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुकाबले में स्कूल और कालेजों की शिक्षा कुछ नहीं है; और यह शिक्षा हमें पुस्तकों या किताबों से नहीं मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र, आत्म-दमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है, इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य जाति की उन्नति का छोर हैं और हमें जन्म में क्या करना चाहिये, इसका सारांश हैं।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रन्थों के समान हैं जिनके पढ़ने से हमें कुछ-न-कुछ उपदेश जरूर मिलता है। बड़प्पन किसी जाति-विशेष या खास दर्जे के आदमियों के हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्वसाधारण का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे गरीब-से-गरीब या छोटे-से-छोटे दर्जे का क्यों न हो, बड़े-से-बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है।

हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सबेरे उठ जिनका नाम ले लेने से दिन भर के लिये मंगल की गारंटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती है। पुरुष-सिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की खासियतवाले सौ पुत्र भी किस काम के!

२—आधुनिक विज्ञान और प्रकृति के रहस्य

[रामदास गौड़]

पचास वर्ष पहले विज्ञान शुष्क समझा जाता था। वैज्ञानिक प्रकृति को ही मानते थे। चार्वाकों की नाई उनकी दृष्टि में आत्मा प्रकृति का ही रूपान्तर था। परलोक और जन्मान्तर में तो अब भी सन्देह है। पर इधर पचास वर्षों में अनेक अद्भुत खोजों से विज्ञान-विदग्धों की आँखें खुल गई हैं और जो पहले समझते थे कि प्रकृति के रहस्य हमको हस्तामलकवत् हो गये हैं वे ही अब प्रत्यक्ष देखते हैं कि "ज्यों कदली के पात में पात-पात में पात; त्योंही प्रकृति की बात में बात-बात में बात।" उन्हें यह नित्य विश्वास होता जा रहा है कि प्रकृति का रहस्य अभी अनन्त है और अनेक इसके कायल हो गये हैं कि "कसन कुश्दो न कुशायदव हिकमतई मुअस्मारा"—यह पहेली न किसी हिकमत से हल हुई है न होगी। प्रकृति की थाह बुद्धि से नहीं लगने की, क्योंकि बुद्धि तो आप प्रकृति का एक अंश है। परन्तु जहाँ तक बुद्धि पहुँचती है अद्वैतवाद की कायल होती जाती है। एकता के सबूत पर सबूत मिलते जा रहे हैं। यद्यपि एकता तक वस्तुतः पहुँच जाना अपना आपा खो बैठना है, तथापि अनुमान की ऐनक के सहारे दूर से बुद्धि की धुँधली निगाह की भी एकता का तेजोमय रूप प्रगति के परदे को फाड़कर चकाचौंध में डाल देता है। बस; उसके कदम आगे नहीं बढ़ सकते। बार-बार हटकर बुद्धि अपने पीछे देखती है, जाँच पड़ताल करती है। एकता की अलौकिक ज्योति के बल से अदृश्य पूर्व विस्तार से अपनी जानकारी बढ़ाती जाती है। परन्तु आगे जाने में (बुद्धि) जिब्रईल के पर जलते हैं।

विज्ञान ने इधर सौ बरसों में प्रकृति की एक अद्भुत लीला देखी। उसने देखा कि समस्त प्रकृति सृष्टि के आदि से ही धीरे-धीरे उन्नति कर रही है!

नित नये रूप बदल रही है। नित नये स्वाँग निकाल रही है। सृष्टि के मस्तक के तख्ते पर अपना हाथ फेरती जाती है। अच्छे अच्छे रूप और गुण की रचना करने में समर्थ होती जा रही है। लाखों वरस के तजरबे से आज उसने वर्तमान मनुष्य का रूप बना पाया है। वर्तमान सभ्यता इसी प्रकृति का विकास है। और रंग-ढंग कहता है कि इस तरह उन्नति करते-करते न जाने कैसी उन्नत दशा में प्रकृति इस सृष्टि को पहुँचावेगी। इस तरह विज्ञान ने यह देखा है कि जगत का होनहार बड़ा अच्छा है, अनेक वैज्ञानिकों ने उसके भविष्य की कुण्डली वनाई है। यद्यपि कई उसकी आकस्मिक मृत्यु आदि का भय वताते हैं, तथापि अधिकांश का यही कहना है कि जगत की आयु इतनी बड़ी है जितने वरस उसकी उत्पत्ति से आज तक वीत गये हैं। अरबों वरसों का जमनना उसके दूध पीने के दिन थे अभी तो पूरे दाँत भी नहीं आए। अभी उसने तोतले शब्द कहने सीखे हैं। उसकी आयु वहुत वड़ी है। दुनिया वूढ़ी नहीं हुई, अभी वच्चा है। चन्द ही साल में दुनिया का अंत वताकर कयामत ढानेवाले सचेत हो जायँ और सतयुग की राह ताकनेवाले निराश न हों। विश्व के हाथ की रेखायें देखकर गणितज्ञ वैज्ञानिक ज्योतिषी का पूरा समर्थन करते हैं और सृष्टि की भावी वड़ी भाग्यवती वताते हैं। ऐसी स्थिति में विज्ञान के सामने वरावर यह प्रश्न आया है कि सृष्टि वा मानव-जीवन का ही क्या उद्देश्य है? यह समस्त सृष्टि किसी मार्ग से मुद्दत से चली आ रही है? और इस मार्ग का यद्यपि कहीं ओर-छोर नहीं दीखता तथापि जिस रीति से यह यात्रा हो रही है क्या उससे यह नहीं जान पड़ता कि इस मार्ग के अन्त में कोई वड़े मार्के की वात होगी, जिसका लक्ष्य सवको प्रेरित कर रहा है? ये प्रश्न बड़े महत्व के हैं क्योंकि यदि यह मालूम हो कि हम कहाँ जायँगे तो हम कोई पास की राह ले सकते हैं।

जैसे "क्या था और कैसा था?" इन प्रश्नों का उत्तर इतिहास समझा जाता है, "क्या और कैसा होना चाहिए?" इन प्रश्नों का उत्तर नीति और धर्मशास्त्र है, उसी तरह "क्या है और कैसा है?" इन प्रश्नों का उत्तर ही विज्ञान समझा

जाता है। स्थायी तथ्यों को लेते हुए विज्ञान जिस प्रकार ज्ञात इतिहास की सामाओं का अतिक्रमण कर जाता है, उसी तरह जीवन मात्र पर विचार करते हुए नीति और धर्मशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका प्रवेश होता है। जैसे स्वास्थ्य के लिये डाक्टर की राय लिए विना काम नहीं चलता, वैसे आधुनिक योगक्षेम के लिए विज्ञान को भी बुलाना पड़ता है। सारांश यही कि "क्या है और कैसा है ?" इन प्रश्नों के उत्तर से ही उसे छुटकारा नहीं मिल जाता, उससे यह भी पूछा जाता है कि तुम्हारी राय में—"क्या और कैसा होना चाहिए ?"

विविध वैज्ञानिकों ने विविध भाँति से इसका उत्तर दिया है। विकासवादियों की यह धारणा है कि प्रकृति में चुनाव का नियम चलता है। जो अधिक बल-वान है वह निर्वलों का अन्त कर देता है। सबलों और निर्वलों आदि का संघर्ष आदि से ही चला आ रहा है। निर्वल नष्ट हो जाता है, सबल की वृद्धि होती है। इसे योग्यतमावशेष नियम कहते हैं। प्रेम व करुणा व दया का तो कोई स्थान ही नहीं वल्कि अहिंसा भी पास नहीं फटकने पाती। बलवान के व्यक्ति-गत स्वार्थ के आगे समस्त निर्वल संसार को सिर झुकाना पड़ता है। इसलिये विकासवादियों के निकट संसार का स्वार्थ पर होना ही स्वाभाविक है। अपनी रक्षा तथा अपने सुख के लिये भरपूर बल लगाना व्यक्ति का परम धर्म है, पर उद्देश्य यह है :—

> आपदर्थे धनं रक्षेद्दाराान् रक्षेद्धनैरपि।
> आत्मनं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।।

योग्यतमावशेष की ऐसी व्याख्या संकुचित पक्ष की है। संतति का, दम्पति का प्रेम नन्हें से नन्हें जीवों को लेकर मनुष्य तक में पाया जाता है। समय-समय पर स्वजातीय पर दया, निर्वल की सहायता और रक्षा ये बातें भी चरा-चर जीव-मात्र में देखी गई हैं। ज्यों-ज्यों शरीर और शारीरिक जीवन में विकास होता है, त्यों-त्यों इन गुणों की मात्रा भी बढ़ती जाती है। मनुष्य शरीर में योग्य-तमावशेष वाला पाशविक नियम नहीं रह जाता। जीवन संघर्षमय अवश्य है

पर वह संघर्ष नहीं जो पशु-पशु में था। मनुष्य का जीवन संघर्ष प्रकृति के साथ है, परिस्थिति के साथ है, उसके सजातीय के साथ नहीं। समस्त मानव-जाति शरीर है और यह पृथ्वी ग्रह उसकी परिस्थिति है, जिससे वह दिन पर दिन अधिक परिचित, अभिज्ञ और अनुवर्ती होता जा रहा है। यही बात उपस्थित सत्य घटनाओं से मेल खाती है। किसी अन्य रीति से जो घटनाएँ समझ में नही आतीं, प्रत्युत असम्बद्ध दीखती हैं क्योंकि मनुष्य झगड़ों से हटता जाता है। शारीरिक बल प्रयोग से दूर होता है; वरन् सहकारिता की ओर उसका अधिकाधिक बढ़ता जाना निर्विवाद है।

किन्तु यदि मनुष्यों में परस्परा स्पर्धा का नाश कर देना ही जीवन का नियम है तो यों समझना चाहिये कि मानव-जाति प्रकृति के नियम की अवहेलना कर रही है और अवश्य नाश के मार्ग पर होगी।

सौभाग्यवश इस विषय में प्रकृति के नियम को समझने की भूल हुई है। समाज वैज्ञानिक दृष्टि से कोई सर्वाङ्ग शरीर नहीं समझा जा सकता। जो अपने सजातीयों के संसर्ग के बिना ही जीवन बिताने का प्रयत्न करता है वह मर जाता है। राष्ट्र भी सर्वाङ्ग पूर्ण देह नहीं है। अन्य जातियों की सहकारिता बिना ही यदि ब्रिटेन जीवित रहने का प्रयत्न करे तो आधी आबादी भूखों मर जाय। सहकारिता जितनी ही पूर्ण हो उतनी ही जीवन-शक्ति की वृद्धि समझनी चाहिये। सहकारिता जितनी ही अपूर्ण होगी उतनी ही कम जीवन-शक्ति भी होगी। जिस शरीर के भिन्न-भिन्न अंग ऐसे अन्योन्याश्रित हैं कि बिना सहकारिता के जीवन का ह्रास वा क्षय हो जाता है, इस शरीर को इस विषय में स्पर्धा वा विरोधी शरीरों का समूह न समझना चाहिये, वरन् एक ही शरीर जानना चाहिये। अपनी परिस्थिति से रगड़ा करने का प्राणियों का स्वभाव ही है, और उपर्युक्त बात उसके अनुकूल ही है। शरीरधारी जितना ही ऊँचे दर्जे का होगा उतना ही उसके अंगों में अन्योन्याश्रय और निकट सम्बन्ध होगा और उतनी सहकारिता की भी आवश्यकता होगी।

यदि जीव वैज्ञानिक नियम का अर्थ यों समझा जाय तो सब बातें स्पष्ट हो जाएँ। विरोध से मनुष्य की अनिवार्य निवृत्ति और सहकारिता में विवश प्रवृत्ति इस बात को प्रकट करती है कि मानव जाति रूपी शरीर अपनी परिस्थिति का अधिकाधिक स्वामी होता जाता है और इस तरह उसकी शक्ति बढ़ती जाती है।

पूर्वोक्त नियम जीव-वैज्ञानिक रीति से वर्णन किया गया है। इन रीतियों से मनुष्य के जीवन-प्रयास में जो आध्यात्मिक अभ्युदय सम्मिलित है उसका सबसे अच्छा वर्णन उसकी वृद्धि के स्थूल विवरण में बड़ी उत्तमता से हो जायगा।

डारविन के सिद्धान्तानुसार मानवी सृष्टि के आदि में मनुष्य का साधारण स्वभाव मनुष्यभक्षक था। अगले मनुष्य राक्षस वा मनुजाद थे। मान लो कि किसी मनुजाद ने अपने वन्दी को मार डाला। यह स्वभावानुकूल होगा कि वह उस मांस को अपने लिये ही रखे, दूसरे को न दे। शक्ति के प्रयोग का यह प्रचंड रूप है और मनुष्य के स्वार्थ का सबसे नीच भाव है। किन्तु सारा मांस एक ही दिन में खाया जाना सम्भव नही था, अतः वह सड़ने लगा और खाने योग्य न रहा और मनुजाद भूखों मरने लगा। जो लोग यह कहा करते हैं कि मनुष्य स्वभाव नहीं वदलता, उनकी भूल दिखने को इस वीभत्स का वर्णन आवश्यक है। अतः पाठक क्षमा करें।

वह मनुजाद जिस समय भूखों मर रहा है, उसी समय उसके दो पड़ोसियों की भी ठीक वही दशा है। यद्यपि पूर्वोक्त मनुजाद अपने भोज्य की रक्षा में शारीरिक दृष्टि से सम्पूर्ण समर्थ था तो भी उसके स्वाभाविक नाश के (सड़ने के) रोकने में असमर्थ होने से यों प्रवन्ध करना पड़ा कि दूसरी वार तीनों ने मिलकर एक ही वन्दी को मारकर मिल-बाँटकर खाने का निश्चय किया। पहले के वन्दी से दोनों पड़ोसियों ने भाग लिया और दूसरे दिन अपने बन्दी से पहले को भाग दिया। इस प्रकार माँस खराब होने न पाया। यह सबसे पहला दृष्टांत है, जिसमें संसार में शारीरिक बल को सहकारिता के सामने सिर झुकाना पड़ा।

अन्त में तीनों के तीन वन्दी दस-बारह दिन में समाप्त हो गये और खाने को कुछ न रह गया। तव यह बात सूझी कि यदि हम इन्ही वन्दियों को जीता रखते तो इनसे अपने लिये शिकार कराते और कन्द मूल खुदवाते। निदान अब जो वन्दी हुए वे मारे नही गए, दास वना लिये गए। यह भी शारीरिक बल-प्रयोग की कमी ही हुई। जिस स्वार्थ की प्रवृत्ति से पहले मारे जाते थे उससे ही अब सेवा में लगाये जाते हैं। तव भी युद्ध-कामना के साथ समझदारी इतनी कम खर्च की गई कि दास भूखों मरने लगे और उपयोगी काम के लिये सर्वथा अशक्त हो गए। अव उनसे धीरे-धीरे अच्छा वर्ताव होने लगा और युद्ध-कामना घटने लगी। दास भी इतने सध गये कि बिना देख-रेख के कन्द-मूल की खुदाई करने लगे और उनके स्वामी देख-रेख के समय को शिकार में लगाने लगें। जो झग-ड़ालूपन पहले दासों पर खर्च होता था, अब और जातियों के बैरियों से उन्हें वचाने में खर्च होता है। यह वात कठिन भी थी, क्योंकि दासों में स्वयं एक स्वामी से दूसरे स्वामी के यहाँ चले जाने की प्रवृत्ति वहुधा देखी जाती थी। इसलिए राजी रखने के लिये उनसे और भी अच्छा व्यवहार किया जाने लगा। शक्ति के प्रयोग में यह और भी कमी हुई और सहकारिता में और भी वृद्धि हुई। दासों ने उनके लिये मजूरी की और स्वामियों ने उन्हें भोजन दिया और रक्षा की! ज्यों-ज्यों जातियों की वृद्धि हुई त्यों-त्यों यही बात पाई गई कि जिस जाति में दासों को जितना ही अधिकार, जितना ही सुख दिया गया उतनी ही उन जातियों में वृद्धि व दृढ़ता हुई। धीरे-धीरे दासत्व ने रैयत व आसामी का रूप ग्रहण किया। स्वामी ने भूमि दी और रक्षा का प्रवन्ध किया और रैयत ने स्वामी के लिये मजदूरी की और सैनिक बने। शारीरिक बल प्रयोग से मानव-जाति और भी हट गई और मिल-जुलकर काम करने की ओर अदला-बदली की रीति और भी बढ़ी। जब सिक्के चले, बल का रूप भी वदल गया और रैयत लगान देने लगी। सैनिक तनख्वाह पाने लगे। अब दोनों पक्षों में स्वच्छ-न्दता से अदला-बदली होने लगी। शारीरिक बल आर्थिक शक्ति से वदल गया। ज्यों-ज्यों बल-प्रयोग से साधारण आर्थिक सुभीते की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति

होती गयी त्यों-त्यों व्यवसाय का अधिकाधिक प्रतिफल मिलने लगा। तातारी खान जो अपने राज्य का धन जबरदस्ती लूट लेता था अब लूट तो कुछ पाता ही नहीं, क्योंकि जिस धन से लाभ नहीं हो सकता उसके उपार्जन के लिये मनुष्य उद्योग न करेंगे। अतः खाने के लिये अंततः किसी धनी को दुर्यातना करके मार डालने पर भी उस धन का सहस्रांश न मिल सकेगा जो लन्दन का कोई व्यापारी बल-प्रयोगाधिकारहीन उपाधि के प्राप्त करने में खुशी से खर्च कर देगा और वह उपाधि भी ऐसे शासक से, ऐसे महाराजाधिराज से, मिलेगी जो प्रयोग का कोई भी अधिकार न रखते हुए संसार के सबसे धनी साम्राज्य का स्वामी है। जिसका धन ऐसे उपायों से इकट्ठा हुआ है, जिनका प्रयोग से कोई सरोकार ही नहीं है।

जाति वा उपजाति के भीतर ही भीतर यह सिलसिला जिस समय बराबर जारी रहा, उसी काल में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों वा जातियों में जो परस्पर बल-प्रयोग वा द्वेष-भाव था वह दूर नहीं हुआ, पर उसमें कमी अवश्य आई। पहले तो यह बात थी कि झाड़ी के भीतर से अपने वैरी जाति वाले का धूल-धूसरित सिर दिखाई दिया नहीं कि इधर राक्षस के तीर का निशाना बन गया, क्योंकि यह 'पर' है अतः मारणीय है। कुछ दिन पीछे यह दस्तूर हो गया कि अपनी जाति-वालों से लड़ाई हो तभी उसे मारने का प्रयत्न किया जाय। ऐसे भी अवसर आने लगे जिनमें शांति होती थी; शत्रुता में कमी होती थी। पहले के युद्धों में वैरी की स्त्रियाँ, बूढ़े सभी मारे जाते थे। बल और युद्ध-कामना अनियन्त्रित होती है, किन्तु ज्यों-ज्यों दासों से मजदूरी का और दासियों से उप-स्त्री का काम लिया जाने लगा, युद्ध कामना घटती गई। बल-प्रयोग कम होता गया। वैरी की स्त्रियाँ विजेता के पुत्र उत्पन्न करने लगीं। झगड़ालूपन और भी हटा। वैरी की बस्ती पर फिर चढ़ाई की गई तो मिला कुछ नहीं, क्योंकि लूट-मार से कुछ बचा ही न था। अतः वैरियों के सरदार को ही मार कर सन्तोष लिया। युयुत्सा में और कमी आई। संवेग का और भी ह्रास हुआ। वैरियों से देश

छीनकर अपने लोगों में बाँट दिया, जैसा नारमन विजेताओं ने किया था। अब मनुष्य सर्वनाश करने के दरजे से आगे वढ़ गये।

अब विजेता विजित को केवल अपने में मिला लेता है वा विजित ही विजेता को मिला लेता है। जैसा समझ लिया जाय। अब एक दूसरे को चट कर जाने की वात नहीं रही। दोनों में एक भी निगला नहीं जाता। इसके अनन्तर विजेता अपने वैरी राजा को वेदखल नहीं करता, वरन् उस पर कर लगा देता है। यह वल-प्रयोग में और भी कमी हुई। किन्तु विजेता राष्ट्र की दशा अपने ही राज्य में खान की ही हो जाती है। जितना ही वह निचोड़ता है उतना ही कम पाता है। यहाँ तक कि अन्त को जो कुछ मिलता है उससे भी अधिक उसके पाने के लिये सेना में खर्च हो जाता है। स्पेनिश अमेरिका में स्पेन की जो दशा हुई— जितना अधिक उसका राज्य वढ़ता था उतना ही स्पेन दरिद्र होता जाता था। वही दशा हो जाती है। अब बुद्धिमान विजेता को यह वात सूझती है कि कर लेने की जगह उस देश के वाजार पर अपना इज़ारा कर लिया जाय तो अधिक लाभ होगा। इस सिद्धान्त पर अंग्रेजों ने उपनिवेशों की पुरानी रचना की। किन्तु इजारे की रीति में लाभ के वदले हानि वहुत हुई। इस पर उपनिवेशों को अपनी-अपनी ही रीति चलाने की आज्ञा दे दी गई। इस तरह वल प्रयोग में और भी कमी हुई। विरोध और झगड़ालूपन और भी घटा। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि वल प्रयोग एकदम छोड़ दिया गया। अब परस्पर लाभ वाली सहकारिता का ही सम्वन्ध रह गया। सो केवल उपनिवेशों से ही नहीं जो पर-राज्य वन गये हैं, किंतु उन राज्यों में भी जो नाम-मात्र को वा वस्तुतः पराये हैं। अब मनुष्यों में परस्पर कठिन रगड़े की दशा नहीं है। हम ऐसी दशा को पहुँचे हैं कि परदेशियों के सुखी रहने पर भी हमारी जीविका या जीवन हैं। यदि इंगलैंड किसी जादू से समस्त विदेशियों को मार डाले तो उसकी आधी प्रजा भूखों मर जाए। ऐसी दशा में परदेशियों से वहुत दिन तक विरोध नहीं रह सकता। किसी गम्भीर जीवन-वैज्ञानिक नियम से वा आत्मरक्षा के सच्चे

३

भाव से ही ऐसे विरोध का कोई न्याय कारण समझा जाए ऐसा भी नहीं है। ज्यों-ज्यों शरीर के अंग-प्रत्यंग का अन्योन्याश्रय नवीन रीति से घनिष्ठ होता जाता है, त्यों-त्यों यह आध्यात्मिक अभ्युदय आवश्यक है, जो आदि से ही मानव-प्रकृति के इतिहास-पट पर अंकित होता आया है। उस दिन से जब मनुष्य अपने वन्दी को मार कर खा जाते थे और साथियों तक में बाँटना अस्वीकार करते थे, आज तक जब कि तार और बैंक ने आर्थिक रीति से सैन्य बल को बिल्कुल निरर्थक कर दिया है।

प्रस्तुत विचारों से कोई ऐसा न समझ ले कि विकासवाद एकदम नई बात है। डारविन के दिमाग की ही उपज है। डारविन को समझाने वाले अफ्रीका के पादरी थे, जिन्होंने वहाँ के वनमानुषों और जंगली मनुष्यों में बड़ा सादृश्य पाया था। जैसे साधारण गोरी सभ्यता वाला अपने को ही मनुष्य समझता है और अ-गोरी जातियों को मनुष्य कोटि में गिनता ही नहीं, और जैसे अब तक अधिकांश भारतीय गोरी जातियों को त्रिजटा की सन्तान समझा करते हैं। उसी तरह यह निष्कर्ष निकाला जाता था कि अफ्रीका के मनुष्य वानर से ही उत्पन्न हुए होंगे। मनुवादों, वनमानुषों और मनुष्यों से प्राचीन सम्बन्ध हमारी कल्पना नहीं है, ऐतिहासिक बात है। वह भी दो चार हजार बरस का इतिहास नहीं युगों पहले की बात है, जहाँ आधुनिक पाश्चात्य कल्पना और प्राच्य में इतना घना सादृश्य है।

सृष्टि की घटनाओं के अवतारों के क्रम के विश्लेषणपूर्वक अध्ययन से विकास का पूरा पता लगता है। एक स्थल पर हक्सले इन बातों को इन शब्दों में मानता है कि "हिन्दू ऋषियों की चर्चा ही क्या जो युगों पहले विकास-सिद्धान्त से पूर्ण परिचित थे। वैष्णवों में भी श्री संप्रदाय के आचार्य रामानुज स्वामी ने बड़ी योग्यता से विकास को सिद्ध किया है। उनका कहना यह है कि जीवात्मा में प्रत्येक शक्ति पहले से ही विद्यमान है। चींटी में वही शक्तियाँ हैं जो ब्रह्मा में है। शक्ति की नदी सब जगह वेग से बहती है जो किसान अपने खेत का बाँध

हटावेगा उसके खेत में जल तुरन्त भर जायगा, यही आंतरिक शक्ति हमारे विकास का हेतु मानी गई है। हिन्दू विकासवाद में और डारविन के विकासवाद में यह अन्तर अवश्य है कि डारविन ने जीवन का रगड़ा विकास का हेतु माना हैं और हिन्दुओं ने आंतरिक शक्ति को हेतु समझा है। मनुष्येतर योनियों में जीवन-संग्राम देखकर ही डारविन ने भूल की, कार्य को कारण समझ बैठा। वस्तुत: जीवन संग्राम उसी प्रवृत्ति का कार्य है जो सृष्टि मात्र में कुटस्थ है जो सारे खेल खेलाती है और सब खोये कुटवाती है। श्री रामानुजाचार्य के अनुसार नीचे से नीच योनि में आत्मा की दशा अन्यन्त खींची हुई कमान के समान है, जिसमें प्रसार बड़ी प्रबल प्रवृत्ति है। शक्तियों के घनीभवन के कारण प्रसार का होना ही स्वाभाविक और आवश्यक है। प्रसार के बदले संकोच उत्पन्न करने के जो कारण उपस्थित होंगे वे ही अधर्म वा पाप समझे जाने चाहिए। उर्ध्वगति स्वभाव सिद्ध है अधोगति अस्वाभाविक है और घोर पाप कर्म से ही हो सकती है।

'धर्मेण गमनभूर्ध्वं गमनंमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।'

अविद्या के कारण नीचे योनियों के स्वाभाविक विकास से जब मार्ग में बाधाएँ उपस्थित होंगी, रुकावटें आगे आवेंगी तभी जीवन-संग्राम का दृश्य सामने आवेगा। वेगवती तरंगिणी की राह में जब तक चट्टानों की रुकावट नहीं है, चुप-चाप धारा बहती जाती है। चट्टानों ने बीच में रुकावट डाली कि धारा कुछ देर के लिये रुकी, परन्तु धीरे-धीरे बल एकत्र करके चट्टानों को मारे थपेड़ों के रेत कर डालती है और घोरनाद करती और तटों को बहाती दूने वेग से समुद्र को जाती है। इस अवरोध को ही देखकर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जीवन-प्रयास तथा योग्यता मावशेष का हेतु समझ लिया। नीच योनियों से जीव का विकास होते-होते मानव-योनि तक पहुँचा है इससे ही विकास का मार्ग प्रशस्त और अनिरुद्ध सा हो जाता है। जीवों में साधारणतया तीन प्रकार की उच्चाभिलाषा होती है जो उसे उन्नति की ओर झुकाती है—तरक्की की राह में लगाती है—सातत्य, सर्वज्ञता और सुख सभी चाहते हैं कि हम सदा बने रहें मरें नहीं, हमारा नाश न हो जाय। इसके लिये सच्चे-झूठे

जितने उपाय सूझते हैं, मनुष्य सभी करता है। यही सातत्य की कामना है। सब कुछ जानने की इच्छा सबके मनों में होती है और उसे जानने के लिये अपने बल भर सभी उपाय करते हैं। यही सर्वज्ञता की इच्छा है। जिये तो सुख से जिये और मरे भी तो जहाँ कहीं आत्मा जाय सुखी ही रहे, यह इच्छा ऐसी प्रवल है कि कई गया जी में अपना श्राद्ध भी कर आते हैं। यही सुख की इच्छा है। इस प्रकार इन तीनों इच्छाओं को साथ लिये हुए जीवात्मा शरीर परिवर्तन करता है। चराचर जीवों में इन्हीं इच्छाओं के अनेक रूपों में चिह्न पाये जाते हैं। वनस्पतियों के जीवन का जैसा अनुशीलन विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु ने किया है, संसार में प्रसिद्ध ही है। वनस्पतियों में भी ऐसी प्रवृति पाई जाती है। अपने यहाँ जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और पशुओं की स्वप्नवस्था वताई है। अवस्था-भेद से जैसे जागृत अवस्था कर्म के लिये सबसे अधिक विकसित दशा है, उसी तरह मानव-शरीर में इन तीनों इच्छाओं का सबसे ज्यादा जोर है। इन इच्छाओं को दूसरे शब्दों में कहें तो क्रमशः सत् चित और आनन्द कह सकते हैं, और यह भी कह सकते हैं कि जीव की स्वाभाविक इच्छा सच्चिदानन्द होने की है।

जीवात्मा की सबसे ऊँची आकांक्षा यही हो भी सकती है वह सच्चिदानन्द हो जाय। सच्चिदानन्द उस आनन्द का नाम है जिसे आस्तिक हिन्दू ईश्वर, जैन तीर्थंकर और बौद्ध बुद्ध व अर्हंत कहते हैं। परन्तु हम यह कह आये हैं कि जीवात्मा चेतन आत्मा और अचेतन अनात्मा के संसर्ग का फल है अतः ऊँची से ऊँची आकांक्षा ईश्वरता की ही हद तक पहुँच सकती है और ईश्वरता भी प्रकृति से सविकार है, निर्विकार नहीं।

इस स्थल पर यह कह देना भी उचित होगा कि जहाँ रामानुज स्वामी के मत से विकास का होना जीव के लिए आवश्यक है, वहाँ भगवान शंकर विकास नहीं मानते। बात ठीक ही है। विकास-प्रवृत्ति, और निवृत्ति, वृद्धि और क्षय ये बातें प्रकृति की हैं। घटना बढ़ना आदि विकार प्रकृति में ही सम्भव हैं। आत्मा पूर्ण अखंड, अनन्त अविकार, सनातन एकरस है। अनिर्वचनीय और एक है।

उसमें विकास की कल्पना की गुन्जाइश कहाँ है ? शंकर के मत स आत्मा ही सत्य है "सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म", "ब्रह्मा सत्यं जगन्मिथ्या", "एकमेवाद्धितीयम्" आदि आत्मा की सत्ता को ठीक और शेष को मिथ्या और अनित्य बताते है । परिवर्तन उसका धर्म है । जगत् और संसार आदि नाम आप पुकार कर विकास की दाद देते हैं और वृद्धि और ह्रास के नियम की मर्यादा करते है । जहाँ रामानुज स्वामी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य चार प्रकार की मुक्ति ठहराते हैं और बन्धन को भ्रममात्र बताते हैं, रामानुज स्वामी का जीव सच्चिदानन्द हो जाता है । शंकर स्वामी का जीव रह ही नहीं जाता, आत्मा में लीन हो जाता है ।

श्री रामानुजाचार्य के अनुसार जीवन की सायुज्य मुक्ति भगवान के अंग में सम्मिलित हो जाना है, परन्तु भगवान शंकर के यहाँ यह द्वैत है ही नहीं । कौन अंगी और कैसा अंग ? जब आत्मा को छोड़ और कोई सत्ता ही नही तो बन्धन भी भ्रम ठहरा । झूठ की बात है । जीव जिसे कहते हैं कभी बँधा ही नहीं । नित्य मुक्त है । यही कारण है कि शंकर के यहाँ विकास सिद्ध नहीं है ।

३—उत्साह

[पं० रामचन्द्र शुक्ल]

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनन्द वर्ग में वही स्थान उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आने वाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय-द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग में अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहस पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किये हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध-वीरता है। जिसमें आघात, पीड़ा क्या मृत्यु तक परवा नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुंचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं

जब कि साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अन्तर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या सम्भावना जितनी ही अधिक होगी, दान-वीरता उतनी ही ऊँची समझी जायगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनन्द के चिन्ह न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट पड़ता है और प्राण-हानि तक की सम्भावना रहती है। अनुसन्धान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देव या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर वर्वर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनन्द-पूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटने वाला प्राणी नहीं हैं। मानसिक क्लेश की सम्भावना से भी वहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन वातों से समाज के बीच उपहार, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी वहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं को अनुसरण वड़े-बड़े समझदार तक इसीलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे, लोगों में उनका वैसा आदर-सन्मान न रह जायगा। उनके लिए मान ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से वढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का

कुछ भी ध्यान न करके, निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करने जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं, दूसरी ओर भारी वेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर वहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलव नहीं; उसकी ओर उनका ध्यान लेश मात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के वीच की सुख्याति का वे अधिक महत्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनन्द की चाह में वे दूसरे पक्ष के वीच की निन्दा या अपमान की कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस—भाव की दृष्टि से—कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव में हानि-कारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़ने वालों की निन्दा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज-सुधार के वर्तमान आन्दोलनों के वीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गम्भीर पुरुष पाए जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनो-वृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी वहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लम्पटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लम्बे-चौड़े दास्तान हर हद सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तान्तों का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर वाधा पहुँचने की सम्भवना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में ऐसे लोग गन्दगी फैलाते पाए जाते हैं।



उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य-कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमङ्ग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभीं नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनाते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्म मात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कर्मों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़ा-बहुत आराम, विश्राम, सुबीते इत्यादि का त्याग सबमें करना पड़ता है; और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों आनन्दित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबन्ध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनन्द के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती है। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ पैर चलाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी

काम कराती है। ऐसे उत्साह वाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धि वीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस-नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं—शास्त्र की नहीं अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि-द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अतः कर्म-वीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनन्द के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आज-कल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म-शृङ्खला पर से होता हुआ उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनन्द की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनन्दमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य को आलम्बन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म-प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनन्द और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर और धर्म-वीर पर विचार

करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दया-वश, श्रद्धा-वश या कीर्ति-लोभ वश दिया जाता है। यदि श्रद्धा-वश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दया-वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलम्बन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उत्साही का साहसपूर्ण आनन्द उसी की ओर उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलम्बन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीररस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनन्द का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनूमान् उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं,—समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है—वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

१. कर्म-भावना से उत्पन्न;
२. फल-भावना से उत्पन्न, और
३. आगन्तुक, अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द समझना चाहिये, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनन्द भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अन्तर होता ही नहीं या बहुत सिमटा

हुआ होता है । इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झों
से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं । इसी कर्म-प्रवर्त्तक आनन्द कं
मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है ।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी साधक कर्मों की ओर हर्ष औ
तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है । पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वह
कर्म-विषयक आनन्द उसी फल की भावना की तीव्रता और मन्दता प
अवलम्बित रहता है । उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मन्
पड़ती है—उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब-तब आनन्द की उमं
गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है । प
कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है । फलासक्त उत्सा
असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है; पर कर्मासक्त उत्साही केव
कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है । अतः हम कह सकते हैं कि कर्म
भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है । फल-भावना-प्रधान उत्साह त
लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है ।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेर
से तत्परता आती है । यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े; उसकी भावना के सा
ही उसका लेश मात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगाव न मालूम हो;
हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो;
इसमें कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनन्द की भी कु
अनुभूति होने लगती है । यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान प
जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव
हमारी यात्रा भी अत्यन्त प्रिय हो जायगी । हम चल पड़ेंगे और हमारे अंग
की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी । यही प्रफुल्लता कठिन-से-कठि
कर्मों के साधन में भी देखी जाती है । वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच
लगने लगते हैं । जब तक फल का पहुँचाने वाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा त

तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नही। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्दशून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही मे चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्ण-राशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ा कर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मणों को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज

का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धनधान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनन्द कर्म करते समय तक वरावर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करने वाले की अपेक्षा अधिक-तर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जितना जीवन बीता वह सन्तोष या आनन्द में बीता, उसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न क्रम के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार परम्परा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी वीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जाकर जव तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तव तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनन्द का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ वैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में वीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्म-ग्लानि के उस कठोर दुःख से वचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनन्द अनुभव करने वालों का ही नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है

कर्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी-कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत-से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध में ही रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम

उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत-से काम प्रसन्नता- पूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते है। इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिज़ाज पूछ लिया करते हैं।

———



४—नाखून क्यों बढ़ते हैं ?

[हजारी प्रसाद द्विवेदी]

बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देने वाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ दिया कि आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं। बच्चे कुछ दिन तक अगर उन्हें बढ़ने दें तो माँ-बाप अक्सर उन्हें डाँटा करते हैं पर कोई नहीं जानता कि ये अभागे नाखून क्यों इस प्रकार बढ़ते हैं। काट दीजिये, वे चुपचाप दंड स्वीकार कर लेंगे, पर निर्लज्ज अपराधी की भाँति फिर छूटते ही सेंध पर हाजिर। आखिर इतने बेहया क्यों हैं ?

कुछ लाख ही वर्षों की बात है, जब मनुष्य जंगली था, वनमानुष जैसे। उसे नाखून की जरूरत थी। उसकी जीवन-रक्षा के लिये नाखून बहुत जरूरी थे। असल में वही उसके अस्त्र थे। दाँत भी थे, पर नाखून के बाद ही उनका स्थान था। उन दिनों जिसे जूझना पड़ता था; प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ना पड़ता था, नाखून उसके लिये आवश्यक अंग था। फिर धीरे-धीरे वह अपने अंग से बाहर की वस्तुओं का सहारा लेने लगा। पत्थर के ढेले और पेड़ की डालें काम में लाने लगा। रामचन्द्रजी की वानरी सेना के पास ऐसे ही अस्त्र थे। उसने हड्डियों के भी हथियार बनाये। इस हड्डी के हथियारों में सबसे मजबूत और सबसे ऐतिहासिक था देवताओं के राजा का वज्र, जो दधीचि मुनि की हड्डियों से बना था। मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने धातु के हथियार पाये। जिनके पास लोहे के शस्त्र और अस्त्र थे, वे विजयी हुए। देवताओं के राजा तक को मनुष्यों के राजा से इसलिए सहायता लेनी पड़ती थी कि मनुष्यों के राजा के पास लोहे के अस्त्र थे। असुरों के पास अनेक विद्यायें थीं, पर लोहे के अस्त्र नहीं

थे, शायद घोड़े भी नहीं थे। आर्यों के पास ये दोनों चीजें थीं। आर्य विजयी हुए। फिर इतिहास अपनी गति से बढ़ता गया। नाग हारे, संवर्ण हारे, यक्ष हारे, गन्धर्व हारे, असुर हारे, राक्षस हारे। लोहे के अस्त्रों ने बाजी मार ली। इतिहास आगे बढ़ा। पलीते वाली बन्दूकों ने, कारतूसों ने, तोपों ने, बमों ने, बम-वर्षक वायुयानों ने इतिहास को किस कीचड़-भरे घाट तक घसीटा है, यह सबको मालूम है। नख-धर मनुष्य अब एटम-बम पर भरोसा करके आगे की ओर चल पड़ा। पर उनके नाखून अब भी बढ़ रहे हैं। अब भी वह याद दिला देती है कि तुम्हारे नाखून को भुलाया नहीं जा सकता। तुम वही लाख वर्ष पहले के नख दन्तावलम्बी जीव हो—पशु के साथ एक ही सतह पर विचरने वाले और चरने वाले।

ततः किम् ? मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि मनुष्य आज अपने बच्चों को नाखून न काटने के लिए डाँटता है। किसी दिन—कुछ थोड़े लाख वर्ष पूर्व—वह अपने बच्चों को नाखून नष्ट करने पर डाँटता रहा होगा। लेकिन प्रकृति है कि वह अब भी नाखून को जिलाए जा रही है और मनुष्य है कि वह अब भी उसे काटे जा रहा है। वे कम्बख्त रोज बढ़ते हैं, क्योंकि वे अन्धे हैं। नहीं जानते कि मनुष्य को इससे कोटि-कोटि गुना शक्तिशाली अस्त्र मिल चुका है। मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य अब नाखून को नहीं चाहता। उसके भीतर बर्बर-युग का कोई अवशेष रह जाय यह उसे असह्य है। लेकिन यह भी कैसे कहूँ, नाखून काटने से क्या होता है ? मनुष्य की बर्बरता घटी कहाँ है, वह तो बढ़ती ही जा रही है। मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्यकांड बार-बार थोड़े ही हुआ है। यह तो उसका नवीनतम रूप है। मैं मनुष्य के नाखून की ओर देखता हूँ तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ। ये उसकी भयंकर पाशवी वृत्ति के जीवन्त प्रतीक हैं। मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मनुष्य ने नाखून को सुकुमार विनोदों के लिए

उपयोग में लाना शुरू किया था। वात्स्यायन के काम-सूत्र से पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जम के सँवारता था। उनके काटने की कला काफी मनोरञ्जक बतायी गयी है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दन्तुल आदि विविध आकृतियों के नाखून उन दिनों विलासी नागरिकों के न जाने किस काम आया करते थे। उनको सिक्थक (मोम) और अलक्तक (आलता) से यत्नपूर्वक रगड़कर लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड़ देश के लोग उन दिनों बड़े-बड़े नखों को पसन्द करते थे और दाक्षिणात्य छोटे नखों को। अपनी-अपनी रुचि है, देश की भी और काल की भी। लेकिन समस्त अधोगामिनी वृत्तियों को और नीचे खींचने वाली वस्तुओं को भारतवर्ष ने मनुष्योचित बताया है, यह बात चाहूँ भी तो भूल नहीं सकता।

मानव शरीर के अध्ययन करने वाले प्राणि-विज्ञानियों का निश्चित मत है कि मानव-चित्त की भाँति मानव-शरीर में बहुत सी अभ्यास-जन्म सहज वृत्तियाँ रह गयी हैं, दीर्घ काल तक उनकी आवश्यकता रही है। अतएव शरीर ने अपने भीतर एक ऐसा गुण पैदा कर लिया है कि वे वृत्तिया अनायास ही, और शरीर के अनजान में भी अपने-आप काम करती हैं। नाखून का बढ़ना उनमें से एक है, केश का बढ़ना दूसरा है। दाँत का दुबारा उठना तीसरा है, पलकों का गिरना चौथा है और असल में सहजात वृत्तियाँ अनजान की स्मृतियों को ही कहते हैं। हमारी भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। अगर आदमी अपने शरीर की, मन की और वाक् की अनायास घटनेवाली वृत्तियों के विषय में विचार करे, तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति पहचानने में बहुत सहायता मिले। पर कौन सोचता है? सोचता क्या उसे इतना भी पता नहीं चलता कि उसके भीतर नख बढ़ा लेने की जो सहजात वृत्ति है, वह उसके पशुत्व का प्रमाण है। उन्हें काटने की जो प्रवृत्ति हैं, वह उसकी मनुष्यता की निशानी है और यद्यपि पशुत्व के चिह्न उसके भीतर रह गये हैं, पर वह पशुत्व को छोड़



चुका है। पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता। उसे कोई और रास्ता खोजना चाहिए। अस्त्र बढ़ाने की प्रवृत्ति मनुष्यता की विरोधिनी है।

मेरा मन पूछता है—किस ओर? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर? अस्त्र बढ़ने की ओर या अस्त्र काटने की ओर। मेरी निर्बोध वालिका ने मानों मनुष्य जाति से ही प्रश्न किया है—जानते हो, नाखून क्यों बढ़ते हैं? यह हमारी पशुता के अवशेष हैं। मैं भी पूछता हूँ—जानते हो ये अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं। ये हमारी पशुता की निशानी हैं। भारतीय भाषाओं में प्रायः ही अंग्रेजी का 'इण्डिपेण्डेन्स' शब्द नहीं व्यवहृत होता। १५ अगस्त को जब अंग्रेजी भाषा के पत्र 'इण्डिपेण्डेन्स' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र 'स्वाधीनता दिवस' की चर्चा कर रहे थे। 'इण्डिपेण्डेन्स' का अर्थ है अनधीनता या किसी की अधीनता का अभाव पर स्वाधीनता शब्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अँग्रेजी में कहना हो, तो 'सेल्फ डिपेण्डेन्स' कह सकते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ, कि इतने दिनों तक अंग्रजी अनुवर्तिता करने के वाद भी भारतवर्ष 'इण्डिपेण्डेन्स' को अनधीनता क्यों नहीं कह सका? उसने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किये—स्वतन्त्रता, स्वराज्य, स्वाधीनता उन सब में 'स्व' का बन्धन अवश्य रखा। यह सयोग की बात है या हमारी समूची परम्परा ही अनजान में, हमारी भाषा के द्वारा प्रकट होती रही है? मुझे प्राणी विज्ञानी की बात फिर याद आती है—सहजात वृत्ति अनजानी स्मृतियों का ही नाम है। स्वराज्य होने के बाद स्वभावतः ही हमारे नेता और विचारशील नागरिक सोचने लगे हैं कि इस देश को सच्चे अर्थ में सुखी कैसे बनाया जाय। हमारे देश के लोग पहली बार यह सोचने लगे हों, ऐसी बात नहीं है। हमारा इतिहास बहुत पुराना है, हमारे शास्त्रों में इस समस्या को नाना भावों और नाना पहलुओं से विचारा गया है। हम कोई नौसिखुए नहीं हैं, जो रातों-रात अनजान जंगल में पहुँचाकर अरक्षित छोड़ दिये गये हों। हमारी परंपरा महिमामयी, उत्तराधिकार विपुल और



संस्कार उज्जवल है ! हमारे अनजान में भी ये बातें हमें एक खास दिशा में सोचने की प्रेरणा देती हैं। यह जरूर है कि परिस्थितियाँ वदल गयी हैं उपकरण नये हो गये हैं और उलझनों की मात्रा भी वहुत वढ़ गयी है, पर मूल समस्याएँ वहुत अधिक नहीं वदली हैं। भारतीय चित्त जो आज भी 'अनधीनता' के रूप में न सोचकर 'स्वाधीनता' के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का फल है। वह 'स्व' के वन्धन को आसानी से नहीं छोड़ सकता। अपने आप पर अपने-आप द्वारा लगाया हुआ वन्धन हमारी संस्कृति की वड़ी भारी विशेषता है, मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो कुछ हमारा पुराना है, जो कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपटे ही रहें। पुराने का मोह सव समय वांछनीय ही नहीं होता। मरे बच्चे को गोद में दवाये रहने वाली 'वंदरिया' मनुष्य का आदर्श नहीं वन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धिता के नशे में चूर होकर अपना सरवस खो दें। कालिदास ने कहा था कि सव पुराने अच्छे ही नहीं होते, सव नये खराव ही नहीं होते। भले लोग दोनों की जाँच कर लेते हैं, जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं और मूढ़ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं। सो हमें परीक्षा करके हितकर वात सोच लेनी होगी और अगर हमारे पूर्व संचित भांडार में वह हितकर वस्तु निकल आवे, तो इससे वढ़कर और क्या हो सकता है ?

जातियाँ इस देश में अनेक आयी हैं। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक वस भी गयी हैं। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना ओर मुख करके चलनेवाली इन जातियों के लिये एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज वात नहीं थी। भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से अनेक वार इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी। पर एक वात उन्होंने लक्ष्य की थी। समस्त वर्णों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है। वह है अपने ही वन्धनों से अपने को बाँधना। मनुष्य पशु से किस वात में भिन्न है ? आहार निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसमें ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के

सुख-दुख के प्रति समवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्य के स्वयं के उद्भावित बन्धन हैं। इसीलिए मनुष्य झगड़े-टंटे को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़ दौड़ने वाले अविवेकी को बुरा समझता है और वचन, मन और शरीर से किये असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी खास जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्य-मात्र का धर्म है महाभारत में इसीलिये निर्वैर-भाव, सत्य और अक्रोध को सब वर्णों का सामान्य धर्म कहा है :—

एतद्धि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत।
निर्वैरता महाराज सत्यम क्रोध एवच ॥

अन्यत्र इसमें निरन्तर दानशीलता को भी गिनाया गया है (अनुशासन, १२१, १०)। गौतम ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह सबके दुख-सुख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्मनिर्मित बन्धन ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोधमूलक धर्म का मूल उत्स यही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजान में भी हमारी भाषा में यह भाव कैसे रह गया है। लेकिन मुझे नाखून के बढ़ने पर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमी को पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेने को कमर कसे है।

मनुष्य को सुख कैसे मिलेगा ? बड़े-बड़े नेता कहते हैं, वस्तुओं की कमी है और मशीन बैठाओ, उत्पादन बढ़ाओ, और धन की वृद्धि करो, और बाह्य उपकरणों की ताकत बढ़ाओ। एक बूढ़ा था। उसने कहा था—बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो। हिंसा को मन से दूर करो, लोक के लिए कष्ट सहो। आराम की बात मत सोचो, आत्म-पोषण की बात सोचो, काम करने की बात सोचो। उसने कहा—प्रेम बड़ी चीज है, क्योंकि वह हमारे भीतर है। उच्छृङ्खलता पशु की प्रवृत्ति है। 'स्व' का बन्धन मनुष्य का स्वभाव है। बूढ़े की बात अच्छी

लगी या नहीं, पता नहीं। उसे गोली मार दी गई। आदमी के नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति ही हावी हुई। मैं हैरान होकर सोचता हूँ—बूढ़े ने कितनी गहराई में पैठ कर मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता का पता लगाया था।

ऐसा कोई दिन आ सकता है, जबकि मनुष्य के नाखूनों का बढ़ना बन्द हो जायगा। प्राणिशास्त्रियों का ऐसा अनुमान है कि मनुष्य का अनावश्यक अंग उसी प्रकार झड़ जायगा, जिस प्रकार उसकी पूँछ झड़ गयी। उस दिन मनुष्य की पशुता भी लुप्त हो जायगी। शायद उस दिन वह मरणास्त्रों का प्रयोग भी बन्द कर देगा। तब तक इस बात से छोटे बच्चों को परिचित करा देना वांछ-नीय जान पड़ता है कि नाखून का बढ़ना मनुष्य के भीतर की पशुता की निशानी है और उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्य की अपनी इच्छा है, अपना आदर्श है। बृह-त्तर जीवन में अस्त्र-शस्त्रों का बढ़ने देना मनुष्य की पशुता की निशानी है और उनकी बाढ़ को रोकना मनुष्यत्व का तकाजा है। मनुष्यों में जो घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाए—आ जाती है, वह पशुत्व का द्योतक है और अपने को संयत रखना, दूसरे के मनोभावों का आदर करना मनुष्य का स्वधर्म है। बच्चे यह जानें तो अच्छा हो कि अभ्यास और तप से प्राप्त वस्तुएँ मनुष्य की महिमा को सूचित करती हैं।

सफलता और चरितार्थता में अन्तर है। मनुष्य मरणास्त्रों के संचयन से, बाह्य उपकरणों के बाहुल्य से उस वस्तु को पा भी सकता है, जिसे उसने बड़े आडम्बर के साथ सफलता नाम दे रक्खा है। परन्तु मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सब के मङ्गल के लिए निःशेष भाव दे देने में है। नाखूनों का बढ़ना मनुष्य की उस अन्ध सहजात वृत्ति का परिणाम है जो उसके जीवन में सफलता ले आना चाहती है, उसको काट देना उस 'स्व' निर्धारित आत्म-बन्धन का फल है, जो उसे चरितार्थता की ओर ले जाती है।

कम्बख्त नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।

५—संस्कृति का स्वरूप

[डा० वासुदेवशरण अग्रवाल]

संस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देनेवाली होती है। सांस्कृतिक कार्य के छोटे से बीज से बहुत फल देने वाला बड़ा वृक्ष बन जाता है। सांस्कृतिक कार्य कल्पवृक्ष की तरह फलदायी होते हैं। अपने ही जीवन की उन्नति, विकास और आनन्द के लिए हमें अपनी संस्कृति की सुध लेनी चाहिये। आर्थिक कार्य-क्रम जितने आवश्यक हैं उनसे कम महत्त्व संस्कृति सम्बन्धी कार्यों का नहीं है। दोनों एक ही रथ के दो पहिए हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। एक के विना दूसरे की कुशल नहीं रहती। जो उन्नत देश हैं वे दोनों कार्य एक साथ सम्हालते हैं। वस्तुतः उन्नति करने का यही एक मार्ग है। मन को भुलाकर केवल शरीर की रक्षा पर्याप्त नहीं है।

संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्ग-पूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान् रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। जब विधाता ने सृष्टि बनाई तो पृथ्वी और आकाश के बीच विशाल अन्तराल नाना रूपों से भरने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ, षड्ऋतु, उषा, सन्ध्या आदि अनेक प्रकार के रूप हमारे आकाश में भर गये। ये देव-शिल्प थे। देवशिल्पों से प्रकृति की संस्कृति भुवनों में व्याप्त हुई। इसी प्रकार मानवी जीवन के उषःकाल की हम कल्पना करें। उसका आकाश मानवीय शिल्प के रूपों से भरता गया। इस प्रयत्न में सहस्रों वर्ष लगे। यही संस्कृति का विकास और परिवर्तन है। जितना भी जीवन का ठाट है उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घकालीन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई है। मनुष्य-जीवन रुकता नहीं, पीढ़ी-दर पीढ़ी आगे बढ़ता है। संस्कृति के रूपों का

उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसी के अंग हैं।

संसार में देशभेद से अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। उनकी संस्कृतियाँ भी अनेक हैं। यहाँ नानात्व अनिवार्य है, वह मानवीय जीवन का झंझट नहीं, उसकी सजावट है। किन्तु देश और काल की सीमा से बँधे हुए हमारा घनिष्ठ परिचय या सम्बन्ध किसी एक संस्कृति से ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन में रमी हुई होती है और उनका संस्कार करती है। यों तो संसार में अनेक स्त्रियाँ और पुरुष हैं पर एक जन्म में जो हमारे माता-पिता बनते हैं उन्हीं के गुण हममें आते हैं और उन्हें ही हम अपनाते हैं। ऐसे ही संस्कृति का सम्बन्ध है, वह सच्चे अर्थों में हमारी धात्री होती है। इस दृष्टि से संस्कृति हमारे मन-का-मन, प्राणों-का-प्राण और शरीर-का-शरीर होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने विचारों को किसी प्रकार संकुचित कर लेते हैं। सच तो यह है कि जितना अधिक हम एक संस्कृति के मर्म को अपनाते हैं, उतने ही ऊँचे उठकर हमारा व्यक्तित्व संसार के दूसरे मनुष्यों, धर्मों, विचार-धाराओं और संस्कृतियों से मिलने और उन्हें जानने के लिए समर्थ और अभि-लाषी बनता है। अपने केन्द्र की उन्नति बाह्य विकास की नींव है। कहते हैं कि घर खीर तो बाहर खीर; घर एकादशी तो बाहर भी सब सूना। एक संस्कृति में जब हमारी निष्ठा पक्की होती है तो हमारे मन की परिधि विस्तृत हो जाती है, हमारी उदारता का भंडार भर जाता है। संस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। राजनीति की साधना उसका केवल एक अंग है। संस्कृति राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को अपने में पचाकर इन दोनों से विस्तृत मानव मन को जन्म देती है। राजनीति में स्थायी रक्तसंचार केवल संस्कृति के प्रचार ज्ञान और साधना से सम्भव है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करने वाला रस है। राजनीति के क्षेत्र में तो उसके इने-गिने पत्ते ही देखने में आते हैं। अथवा यों कहे कि राजनीति केवल पथ की साधना है, संस्कृति उस पथ का साध्य।

भारतीय राष्ट्र अब स्वतन्त्र हुआ है। इसका अर्थ यह है कि हमें अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन ढालने का अवसर प्राप्त हुआ है। जीवन का जो नवीन रूप हमें प्राप्त होगा वह अकस्मात् अपने आप आ गिरने वाला नहीं है। उसके लिए जानबूझ कर निश्चित विधि से हमें प्रयत्न करना होगा। राष्ट्र संवर्धन का सबसे प्रबल कार्य संस्कृति की साधना हैं। उसके लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना आवश्यक है। देश के प्रत्येक भाग में इस प्रकार के प्रयत्न आवश्यक हैं। इस देश की संस्कृति की धारा अतिप्राचीन काल से वहती चली आई है। हम उसका सम्मान करते हैं, किन्तु उसके प्राणवन्त तत्व को अपनाकर ही हम आगे वढ़ सकते हैं। उसका जो जड़भाग है उस गुरुतर वोझ को यदि हम ढोना चाहें तो हमारी जाति में अड़चन उत्पन्न होगी। निरन्तर गति मानव-जीवन का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र, जो एक पड़ाव पर टिक रहता है, उसका जीवन ढलने लगता है। इसलिए 'चरैवेति चरैवेति' की धुन जब तक राष्ट्र के रथ-चक्रों में गूंजती रहती है तभी तक प्रगति और उन्नति होती है अन्यथा प्रकाश और प्राणवायु के कपाट वन्द हो जाते हैं और जीवन रुँध जाता है। हमें जागरूक रहना चाहिए; ऐसा नहीं कि हमारा मन परकोटा खींचकर आत्मरक्षा की साध करने लगे।

पूर्व और नूतन का जहाँ मेल होता है वहीं उच्च संस्कृति की उपजाऊ भूमि है। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में कहा गया है कि नये और पुराने ऋषि दोनों ही ज्ञानरूपी अग्नि की उपासना करते हैं। यही अमर सत्य है। कालिदास ने गुप्तकाल की स्वर्ण-युगीन भावना को प्रकट करते हुए लिखा है कि जो पुराना है वह केवल इसी कारण अच्छा नहीं माना जा सकता, और जो नया है उसका भी इसीलिए तिरस्कार करना उचित नहीं। बुद्धिमान् दोनों को कसौटी पर कसकर किसी एक को अपनाते हैं। जो गूढ़ हैं उनके पास घर की बुद्धि का टोटा होने के कारण वे दूसरों के भुलावे में आ जाते हैं। गुप्त-युग के ही दूसरे महान् विद्वान् श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कुछ इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये थे—"जो पुरातन काल था वह मर चुका। वह दूसरों का था, आज का जन

यदि उसको पकड़ कर बैठेगा तो वह भी पुरातन की तरह ही मृत हो जायगा। पुराने समय के जो विचार हैं वे तो उनके प्रकार के हैं। कौन ऐसा है जो भली प्रकार उसकी परीक्षा किए बिना अपने मन को उधर जाने देगा।

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥

अथवा "जो स्वयं विचार करने में आलसी है वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता। जिसके मन में सही निश्चय करने की बुद्धि है उसी के विचार प्रसन्न और साफ-सुथरे रहते हैं। जो यह सोचता है कि पहले आचार्य और धर्मगुरु जो कह गये सब सच्चा है, उनकी सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचार-शक्ति टुटपुंजिया है, ऐसा बाबावाक्यं प्रमाणम् के ढंग पर सोचने वाला मनुष्य केवल आत्म-हनन का मार्ग अपनाता है"—

विनिश्चयं नैति यथालसस्तथा तयेव निश्चितवान् प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति।

"मनुष्य के चरित्र मनुष्यों के कारण स्वयं मनुष्यों द्वारा ही निश्चित किए गये हैं। यदि कोई बुद्धि का आलसी या विचारों का दरिद्री बनकर हाथ में पतवार लेता है तो वह कभी उन चरित्रों का पार नहीं पा सकता जो अथाह हैं और जिनका अन्त नहीं। जिस प्रकार हम अपने मन को पक्का समझते हैं वैसे ही दूसरे का मत भी तो हो सकता है। दोनों में से किसकी बात कही जाय? इसलिए दुराग्रह को छोड़कर परीक्षा की कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को कस कर देखना चाहिए।" गुप्त-कालीन संस्कृति के ये गूंजते हुए स्वर प्रगति उत्साह, नवीन पथ संशोधन और भारमुक्त मन की सूचना देते हैं। राष्ट्र के अर्वाचीन जीवन में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण हमें ग्रहण करना आवश्यक है। कुषाण-युग के आरम्भ की मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए महाकवि अश्वघोष ने तो यहाँ तक कहा था कि राजा और ऋषियों के उन आदर्श

चरित्रों को जिन्हें पिता अपने जीवन में पूरा नहीं कर सके थे उनके पुत्रों ने कर दिखाया—

राज्ञाम् ऋषीणाम् चरितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ।

नये और पुराने के संघर्ष में इस प्रकार का सुलझा हुआ और साहसपूर्ण दृष्टि-कोण रखना आवश्यक है। इससे प्रगति का मार्ग खुला रहता है। अन्यथा भूतकाल कण्ठ में पड़े खटखटे की तरह बारम्बार टकराकर हमारी हड्डियों को तोड़ता रहता है। भारतवर्ष जैसे देश के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह भूतकाल की जड़पूजा में फँसकर उसी को संस्कृति का अंग न मानने लगे। भूतकाल की रूढ़ियों से ऊपर उठकर उसके नित्य अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को प्रकाश से भर देने वाली उसकी स्फूर्ति और प्रेरणा स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए। जब कर्म की सिद्धि पर मनुष्य का ध्यान जाता है तब वह अनेक दोषों से बच जाता है। जब कर्म से भयभीत व्यक्ति केवल विचारों की उलझन में फँस जाता है तब वह जीवन की नई पद्धति या संस्कृति को जन्म नहीं दे पाता। अतएव आवश्यक है कि पूर्वकालीन संस्कृति के जो निर्माणकारी तत्त्व हैं उन्हें लेकर हम कर्म में लगें और नई वस्तु का निर्माण करें। इसी प्रकार भूतकाल वर्तमान का खाद बनकर भविष्य के लिए विशेष उपयोगी बनता है। भविष्य का विरोध करके पदे-पदे उससे जूझने में और उसकी गति कुण्ठित करने में भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नये और पुराने के बीच एक खाई बन जाती है और समाज में दो प्रकार की विचारधाराएँ फैलकर संघर्ष को जन्म देती हैं। हमें अपने भूतकालीन साहित्य में आत्मत्याग और मानव-सेवा का आदर्श ग्रहण करना होगा। अपनी कला में से अध्यात्मभावों की प्रतिष्ठा और सौन्दर्य-विधान के अनेक रूपों और अभिप्रायों को पुनः स्वीकार करना होगा। अपने दार्शनिक विचारों में से उस दृष्टिकोण को अपनाना होगा

जो समन्वय, मेल-जोल, समवाय और संप्रीति के जीवन-मन्त्र की शिक्षा देता है, जो विश्व के भावी सम्बन्धों का एकमात्र नियामक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अपने उच्चाशय वाले धार्मिक सिद्धान्तों को मथकर उनका सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या मतविशेष का आग्रह नहीं है। रूढ़ियाँ रुचि-भेद से भिन्न होती रही हैं और होती रहेंगी। धर्म का मथा हुआ सार है प्रयत्नपूर्वक अपने आपको ऊँचा बनाना। जीवन को उठाने वाले जो नियम हैं वे जब आत्मा में बसने लगते हैं तभी धर्म का सच्चा आरम्भ मानना चाहिये। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान् सामग्री हमें मिल सकती है उसे नये जीवन के लिए ग्रहण करना यही संस्कृति कर्म की उचित शिक्षा और सच्ची उपयोगिता है।

६—विज्ञान और आधुनिक जीवन

[डॉ० रामरतन भटनागर]

आधुनिक जीवन विज्ञान की ही देन है क्योंकि उसका आधार वैज्ञानिक और बौद्धिक संस्कृति है। मानव-जीवन के आरम्भ से अब तक मनुष्य ने प्रकृति की विश्रृङ्खलता पर सुनिश्चित योजना और सुबद्धता का अनेक बार आरोप किया है और इस प्रक्रिया में संस्कृति के अनेक रूप उद्‌घाटित हुए हैं। वैदिक ऋषियों ने ऋत् की कल्पना के द्वारा मानव-जीवन में नैतिक तत्त्वों को प्रधानता दी और यम-नियम के द्वारा मानवीय सम्बन्धों को अनुशासित करना चाहा। जैन तीर्थङ्करों ने तप तथा अहिंसा और भगवान बुद्ध ने करुणा के द्वारा मनुष्य की सर्जनात्मक धारणा को चुनौती दी। वैष्णव भक्तों के लिए, परम प्रिय के लिए आत्मसमर्पणभाव ही मानव-सम्बन्धों का वाहक बन गया। इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति, समाज और युग में सन्तुलन और समाधान के रूप भिन्न रहे हैं और मनुष्य अपनी सर्जनात्मक कल्पना के द्वारा नव-नव संस्कृतियों को जन्म देने में सफल रहा है। विज्ञान ने हमें जो संस्कृति दी है वह भौतिक शक्तियों को नियन्त्रित कर शक्ति की उपासना करती है। वैज्ञानिक चिन्तन शाक्तधर्मी और उसकी सार्थकता यही है कि वह हमें प्राकृतिक शक्तियों पर शासन करने की क्षमता दे। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वैज्ञानिक संस्कृति परिवेश को चुनौती देती है और हमारी देश-काल की सीमाओं को तोड़कर हमें सार्वभौम जीवन के लिए तैयार करती है। परन्तु सृष्टि को हम जो रूप दें वह हमारी परिपूर्ण जीवन-दृष्टि पर निर्भर रहेगा, केवल निर्वैयक्तिक और एकांगी सन्दर्भों पर नहीं। संस्कृति भीतर से बल पाती है। वह अंतश्चेतना की उपज है जिसमें युग के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान, इच्छा और कर्म का समाहार हो जाता है। अब तक विज्ञान ने मानवीय उपकरणों का अपनी बौद्धिक,

प्रायोगिक और प्राविधिक संस्कृति में समावेश नहीं किया है क्योंकि वैज्ञानिक तटस्थता और स्वतन्त्रता का दम्भ भरते हैं। उन्हें यह समझ लेना होगा कि विज्ञान अपने में संस्कृति नही है, वह मानव-संस्कृति का सर्जनात्मक माध्यम मात्र है। वह मानव-जीवन के विकास का ऐतिहासिक चरण है जिसका आना अनिवार्य था। इसीलिए आधुनिक जीवन को हम जब वैज्ञानिक संस्कृति का पर्याय मानते हैं तो इसी ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार करते हैं।

परन्तु अब ऐसा जान पड़ता है कि अहंकार के अजगर ने हमें अपनी कुंडली में बाँध लिया है और हम अपनी बुद्धि के गढ़ में ही बन्दी हो गये हैं। मानव-मन अपनी चरम सीमा तक चला गया है और उसने जिन आत्मिक संघर्षों और आत्मिक खाइयों को जन्म दिया है वे आज मनुष्य के भाग्य का अनिवार्य अंग बन गई हैं। आज हम वहाँ पहुँच गये हैं जहाँ यह आवश्यक हो गया है कि हम भौतिक वातावरण को ही नहीं बदलें, अपनी प्रकृति को बदलने की प्रक्रिया को भी उद्घटित कर सकें। शक्ति-साधना के साथ मूल्यों की साधना भी आवश्यक हो गई है। हम चाहते हैं कि विज्ञान हमें मानव-जाति के भविष्य का चित्र भी दे सके। उस चित्र में हमारी सभी उपलब्धियाँ यथास्थान आ जाएँ।

परन्तु क्या विज्ञान हमें परिपूर्ण और समन्वित जीवन दृष्टि दे सकता है ? क्या उसमें विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों और अनुभूतियों को बाँधने की शक्ति है ? क्या वह धर्म की तरह एक सार्वभौमिक और मानवीय तन्त्र हमें दे सकेगा जो उसे अनास्था और निरपेक्षता से ऊपर उठा कर मानव की कल्याण-साधना का महामंत्र बना सके ? ये कुछ प्रश्न हैं जो आज प्रत्येक वैज्ञानिक विचारक के सामने हैं। अब तक विज्ञान एकांगिता का दोषी रहा है। उसे मूल्यों के प्रति अनासक्त, निरपेक्ष एवं असंग्रही कहा गया है। उसने सत्य को सुन्दर और शिव का साधन नहीं बनाया है, न उसकी सत्य की खोज मात्र सत्य के लिए है। सत्य की शोध के रूप में उसने शक्ति की साधना की है, परन्तु इसके लिए उसे

अपने अनुभव के उन स्वरूपों को लेकर चलना पड़ा है जो उसके इस कार्य में सहायक हो सकते थे। जिस प्रकार सरिता का उद्दाम प्रवाह कवि के लिए "निर्झरेर स्वप्न-भंग" (रवीन्द्र) या "धारा" (निराला) की अनुभूति की सृष्टि करता है और उसी प्रकार इंजीनियर के लिए वह जलविद्युत् का स्रोत बन कर सार्थक होता है। विज्ञान वस्तुओं को नहीं, उनके अनुभव से उत्पन्न चेतनता या जागरूकता को महत्ता देता है। वह सम्बन्धों, प्रतीकों और मानदण्डों से बँधा है। वह हार्दिक नहीं है। इसी से वह हमारी आत्मा को तोष नहीं देता। वह सूचना बनकर रह जाता है और बौद्धिकता के धरातल से ऊपर नहीं उठता।

यदि विज्ञान को सृजनात्मक और पूर्णकामी बनना है तो हमें कल्पना और सत्य के बीच की गहरी खाई को पाटना होगा और मनुष्य के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों को एक हार्दिक सूत्र में बाँधना होगा। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि विज्ञान हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा और धर्म या अध्यात्म हमारे आत्मिक जगत की देख-रेख करेगा। मानव-चेतना के खण्ड नहीं किये जा सकते। लगभग तीन सौ वर्ष हुए, विज्ञान ने मनुष्य के धारणाजगत को चुनौती देते हुए प्रवेश किया और भौतिक परिवेश को बदलने वाले यन्त्र के रूप में उसके उपयोग को डेढ़ शताब्दी से अधिक समय नहीं हुआ। फिर भी उस थोड़े से समय में उसने मानव-संस्कृति की भूमिका ही बदल दी है। उसने पुरातन विश्वासों और संस्कृति के स्थान पर नए विश्वासों और संस्कारों को हमें दिया है और मानव-मस्तिष्क को ऐसी संजीविनी-शक्ति भी उससे प्राप्त हुई है कि वह नयी उपलब्धियों के प्रकाश में अपनी धारणाओं में परिवर्तन भी कर सकता है। न्यूटन से आईन्स्टाइन तक ही विज्ञान की प्रगति नहीं है, संभावनाओं का एक विस्तृत संसार अभी आगे पड़ा है। सामान्यतः लोगों का विचार है कि विज्ञान धर्म का स्थान नहीं ले सकता। वह हमें परिपूर्ण जीवन-दर्शन देने में असमर्थ है। परन्तु यह निश्चित है कि विज्ञान केवल "टेकनीक" ही नहीं है। वह जीवनविधि भी है। उसने हमारे मनोवैज्ञानिक, सम्वेदनात्मक और बौद्धिक जीवन को भी पर्याप्त मात्रा में बदल दिया है। जिन क्षेत्रों में विज्ञान का प्रवेश कल नहीं था,

वहाँ भी वह आज पहुँच गया है । मनः विश्लेषण और अतिमानसीय विज्ञान (पारासाइकोलॉजी) ने जहाँ मानव-व्यक्तित्व के गहरे पर्तों में उतरने का साहस किया है वहाँ सामाजिक मनोविज्ञान ने मानव-समूहों को इकाई मान कर उनके पारस्परिक एवं द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के विषय में खोज की नई पद्धतियाँ आविष्कृत की हैं । यह निश्चय है कि विज्ञान इससे आगे बढ़ेगा और वह एक सम्पन्न और परिपूर्ण जीवन-दृष्टि का रूप धारण कर लेगा । उस समय विज्ञान धर्म और नीति का विरोधी नहीं रह जायेगा । लोकतन्त्र, उदार शिक्षा और प्रगति के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ विज्ञान की ही देन हैं या वे विज्ञान की भाँति ही बुद्धिवाद की उपज हैं । यह अवश्य है कि इन सभी क्षेत्रों में हम अतिवाद की सीमा तक पहुँच गये हैं । हमने ज्ञान की शक्ति को तो समझा है परन्तु उस शक्ति को सम्वेदनात्मक अनुभूति का विषय नहीं बनाया है । हमारे लोकतन्त्र या तो व्यक्तिवाद की चट्टान से टकरा कर टूट रहे हैं या राष्ट्रीयता और समाजवाद के भावात्मक और तांत्रिक विधानों के हाथ में कठपुतली बन कर नाच रहे हैं । लोकतन्त्र जीवनचर्या ही नहीं है, वह सर्जनात्मक जीवन भी है, यह आज हम थोड़ा-बहुत जानने लगे हैं । लोकतन्त्र भौतिक नहीं आत्मिक वस्तु है, इसे जिस दिन हमने समझ लिया उस दिन हमारे राष्ट्रीय और अन्त-र्राष्ट्रीय संघर्ष समाप्त हो गयें । इसी तरह हमने उद्योग-धन्धों और सरकारों के चलाने के लिए शिक्षा-पद्धति को विकृत कर लिया है और वह विद्यार्थियों को नौकरी के लिए तैयार करती है, उस सर्जनात्मक भूमिका के लिए नहीं जो समाज के भीतर हममें से प्रत्येक के लिए निश्चित है । यही नहीं, हमारी शिक्षा अतिबौद्धिक है क्योंकि हमारे जीवन का समस्त परिवेश बौद्धिक और तार्किक है । हम नहीं जानते कि सर्जनात्मक मूल्यों की उपेक्षा करते हुए बुद्धि की पूजा भयावह वस्तु है । मानव-प्रकृति के अतार्किक और रहस्यमय अंग को भी हमें परितोष देते चलना है , हमारे बुद्धिवाद ने मानव-व्यक्तित्व की विचित्रता और भिन्नता पर अधिक बल दिया है, मानव की सभिनता की ओर से हमारी दृष्टि हट गई है परन्तु यही दृष्टि सहकारिता को जन्म देती है । इस प्रकार अभी

तक हम विज्ञान के हामी होते हुए भी सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न नहीं हो सके हैं। यह दृष्टि मर्यादा, सन्तुलन, समन्वय और सार्वजनीनता चाहती है। यह दृष्टि एकांगी नहीं हो सकती। इसीलिए आज विज्ञान अपने प्रथित क्षेत्र से बाहर निकल कर जीवन और ज्ञान के अन्य क्षेत्रों को भी स्पर्श करने लगा है। आधुनिक जीवन के भीतर द्वन्द्वों की सृष्टि इसीलिए हुई है कि हमने विज्ञान को पूर्णतः नहीं अपनाया है। एक तरह से हम पूरे-पूरे बौद्धिक और वैज्ञानिक नहीं बन पाये हैं। अध्यात्म और विज्ञान में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार धर्म के कर्मकाण्डी और रूढ़िवादी पक्षों को हटाने पर जो शेष रह जाता है वह अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। विकासवाद के सिद्धान्त को धर्म, दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में लागू कर आज हम इन उपलब्धियों के विषय में अधिक ज्ञानवान हो गये हैं। जो सड़ा-गला था वह झड़ गया है और कसौटी पर कसा सत्य का खरा सोना हमारे हाथ लगा है।

विज्ञान ने आधुनिक जीवन को भौतिकता की दृष्टि से सम्पन्न बनाया है और देश-काल के व्यवधान को दूर कर मानवता को एक बड़ा कुटुम्ब बना दिया है। कभी यह है कि अभी आर्थिक और भौतिक सुविधाओं के क्षेत्र में मानव-समाज बहुत पीछे है और करोड़ों की संख्या में मनुष्य अन्न, वस्त्र और आवास के लिए अभी लालायित हैं। अणु-युग ने इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आशा बँधाई है और भौतिक दृष्टि से मानव-जाति सम्पन्नता के नए युग में निश्चत ही प्रवेश कर रही है। परन्तु परस्पर पास आने से हमारी सांस्कृतिक एकता का भी प्रश्न उठा हैं। क्या मानव-संस्कृति जातीय और राष्ट्रीय संस्कृतियों से विच्छिन्न रहेगी और क्या हम पूर्वी संस्कृतियों के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को वैज्ञानिक जीवन के मूल्यों से संयुक्त नहीं कर सकेंगे ? विज्ञान को निर्मूल्य कहा जाता है, परन्तु यह निश्चय ही सत्य बात नहीं है क्योंकि विज्ञान "टेकनीक" ही नही, वह जीवनदृष्टि भी है। इस जीवन-दृष्टि से धर्म, नीति, दर्शन और आचार का संस्कार होना अनिवार्य है, परन्तु इनमें से किसी को भी नष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं है। अब हम सभी ज्ञान-क्षेत्रों को विकास-

वादी दृष्टि से देखने लगे हैं और हमारे मानदण्ड बौद्धिक होते जा रहे हैं। अतिवादी बौद्धिकता में मानव-जाति का कल्याण नहीं है, उसे अहिंसा और करुणा से पुष्ट बौद्धिकता चाहिए। उसे हम अध्यात्मनिष्ठ विज्ञान कहें या विज्ञाननिष्ठ अध्यात्म, यह कहना आवश्यक है, कि भावी मानवता का धर्म वही होगा। विज्ञान आधुनिक जीवन को यह नयी दृष्टि दे सके तो उसका भविष्य उज्जवल ही कहा जायेगा। मानव-जाति की अद्यतन उपलब्धियों को आत्मसात् करने में ही उसका कल्याण है क्योंकि वह भविष्यमती है। उसके आगे सम्भावनाओं का विशाल संसार फैला है। बौद्धिकता को सांस्कृतिक और मानवीय धरातल देकर ही विज्ञान धर्म का स्थानापन्न बन सकेगा।

७—संस्कृति की पाषाणी

[डा० विद्यानिवास मिश्र]

सतना उतरकर यदि आप खजुराहो की ओर बढ़ेंगे तो रास्ते में आपको केन नदी मिलेगी—बड़े-बड़े पाषाण-खण्डों के अन्तराल से पिघल-पिघल कर बहती हुई, अनुरागी चट्टानों का सात्त्विक प्रेम अपने हृदय में भरती हुई, और खजुराहो के कलायात्री के मन में मध्ययुगीन संस्कृति के सुन्दरतम शिव की आकार-रेखाएँ खींचती हुई। इसी केन के रस-अवगाह में पड़े हुए पत्थरों से खजुराहो के शिल्पी ने कन्दर्पेश्वर की रचना खड़ी की। उस रचना में केन के द्वारा भारत के मध्य विन्ध्य का युग-सञ्चित स्नेह ही नहीं सना, भारत की मध्य-युगीन कला-साधना का उत्कर्ष भी ढल कर आया, विश्व का सम्मोहन सौन्दर्य अमृतत्व के लिए गतिशील बन कर आया, सृष्टि का रहस्य गर्भगृह के गह्वर में नीलमणि का शिवलिङ्ग बन कर उद्भासित हुआ और विराट् की कल्पना मन्दिर बन कर साकार हुई। असीम को कला की सीमाओं में बाँधने का यह प्रयत्न बेजोड़ है। शैव दर्शन की परम उपलब्धि आनन्द को विजड़ित करके जिस कला-कार ने पत्थर में ढाल दिया वह कलाकार न केवल अपनी रेखाओं का आचार्य था, बल्कि जीवन के व्यापक अर्थ में पहुँचा हुआ सिद्ध दार्शनिक भी था। वह कला-परम्परा की कड़ी तो जोड़ ही रहा था, साथ ही मानव जीवन की शिवतम, सुन्दरतम और शाश्वततम व्याख्या भी प्रस्तुत कर रहा था। वह अपने कठोर माध्यम-द्वारा संस्कृति की मृदुलतम रागिनी को मुखरित करने में लगा हुआ था; वह कायिक वासना को तीक्ष्णतम धार देकर शिवोन्मुख बनाने में लगा था; वह उन्मुक्त आमोद्-प्रमोद को, आखेट और मधुपान को, नृत्य और गीत को परम आनन्द की झाईं के रूप में प्रतिबिम्बित करने में लगा था; वह शक्ति के ऊर्जस्वी प्रवाह को शार्दूल प्रतिमाओं में उभारने में लगा था; और वह

शिव के शाश्वत संकल्प को आलों में प्रतिष्ठित देव-मूर्त्तियों में उतारने में लगा था।

इसलिए उस कलाकार की सिद्धि पूर्व-मध्ययुग की निखिल संस्कृति की सिद्धि है। पूर्व-मध्ययुग ने, जो भारतीय दर्शन का स्वर्ण-युग था, प्राचीन चिन्तन-परम्परा में प्राण-संचार किया, पथभ्रष्टों के लिए प्रशस्त से-प्रशस्त और सुगम से सुगम पन्थ दिया और विद्या के विविध क्षेत्रों के बीच समरसता प्रवाहित की। शंकर का अद्वैत, बौद्धों का सहज, शैवों की प्रत्यभिज्ञा, वैष्णवों की रागानुगा भक्ति, ध्वनिवादियों का रस, योगियों का विन्दु, स्थपतियों का मल-विमुक्त आमलक और शिल्पियों की दर्पणवती सुरसुन्दरी ये एक-दूसरे से बिखरे हुए संकेत नहीं हैं, ये एक मननशील जाति के सुविचारित मन्थन के परिणाम हैं, इनके पीछे एक जागरूक और सचेत प्रयत्न है, विश्व को मनुष्य में समाविष्ट पाने की प्रबल आकांक्षा है और ऋजकुटिल नाना वर्त्मों से एक ही महान् अर्णव में मिलने का दुर्निवार संकल्प है। पृथक् विकसित दिखते हुए भी ये एक-दूसरे से संग्रथित हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार खजुराहो-मन्दिरों के भित्तिशिल्प बहुविध लगते हुए भी एक विशिष्ठ प्रयोजन की पूर्ति में समान रूप से उद्दिष्ट हैं।

उस युग को कुछ अर्द्धपठित लोग ह्रासोन्मुख कहते हैं, उनके लिए सातवीं सदी आयी नहीं कि भारत का ज्ञानसूर्य अस्तांचलको चला गया। वे वस्तुओं के भीतर पैठकर छानबीन करने वाले प्रयत्न को ह्रास का लक्षण समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि इस युग की अन्तर्मुखीनता बाह्य दृष्टि से भी उतनी ही सम्पन्न हैं। उसमें अन्तर इतना ही है कि बाह्य सौन्दर्य का प्रसार व्यंजक रूप में ही उन्हें गृहीत है, व्यंग्य रूप में नहीं। वे बाहरी रेखाओं से उनके द्वारा प्रतीयमान वस्तु को व्यतिरिक्त भी देख सकते थे, परन्तु अन्तर और बाह्य— दोनों दृष्टियों से उन्होंने जगत् का साक्षात्कार किया था। इसका मूर्त्तिमान् प्रमाण है खजुरहो के मन्दिर की स्थापत्य-रचना। कन्दर्पेश्वर मन्दिर, जिसे आजकल कन्दरिया महादेव का मन्दिर कहा जाता है, जितना लम्बा है लगभग उतना ही ऊँचा है। अर्द्धमण्डप के तोरणद्वार से उसका गर्भगृह जितना ही दूर

और गहन दिखता है, मन्दिर के बाहरी कोनों से शिखर भी उतना ही ऊँचा और महान् लगता है। गर्भगृह के केन्द्र में यदि उपास्य प्रतिमा है तो ठीक उसी की सीध में ऊपर शिखर-भाग पर आमलक अर्थात् मन की शुचिता के ऊपर अधिष्ठित अमृत घट को भेद कर ऊपर चली जाने वाली नोक है जो ससीम आत्मा के विमोक्ष का प्रतीक है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति खण्डित नहीं होती, विशेष रूप से वह संस्कृति जो समग्र होती है, जो प्राणवान् होती है, और जो प्रक्रियाशील होती है। आप जब पत्थर में दर्पण लिये हुए सुन्दरी का शिल्प देखेंगे तो आपको अभिनवगुप्त की प्रत्यभिज्ञा या स्वरूपानुभूति याद आ जायेगी। आप जब कमल के पटलों में अधिष्ठित एक स्तर के बाद दूसरे स्तर का निर्माण देखेंगे तो आपको योग-साधना के छह कमल याद आ जायेंगे। आप जब नीचे की नृत्य-पट्टिकाओं से लेकर ऊपर तक विद्याधरों की परस्पर आबद्ध शिल्प-पंक्ति को एक नजर में देखेंगे तो आपको मानव उल्लास की वे विविध प्रक्रियाएँ एक महान् आनन्द के लिए प्रेरित दिखेंगी जो निचले-से-निचले स्तर और ऊँचे-से-ऊँचे स्तर तक एक ही तरह उन्मुक्त हैं; एक ही तरह गतिशील हैं और एक ही तरह व्यक्ति के बोध को विगलित करके समष्टि के साथ समरस हैं।

कन्दर्पेश्वर-मन्दिर खजुराहो की स्थापत्यकला का चरम उत्कर्ष है, क्योंकि इसमें समानुपात, सौष्ठव और गौरव तीनों हैं। इसकी शिखर-रचना अत्यन्त मनोहारी है। आप जब वेदी के दो पिछले कोनों से शिखर की ओर दृष्टि डालते हैं तो आपको लगता है कि मन्दिर न जाने कितना ऊँचा है! कुल १०२ फीटकी ऊँचाई एकाएक दृष्टि में इतनी बड़ी हो जाती है कि इससे ऊँची चीज की कल्पना ही थोड़ी देर के लिए नहीं हो सकती। इस ऊँचाई का प्रभाव लाने के लिए खजुराहो के स्थपति ने जो कला-विधि अपनायी है, वह अपूर्व है। बिचले शिखर के चारों ओर नीचे से लेकर ऊपर तक जोड़ने की कोशिश करते हुए छोटे से छोटे उरुशृङ्ग, जो छोटे पैमाने पर उसके प्रतिरूप हैं, उभारे गये

हैं। इन उरुशृङ्गों की आरोही पंक्तियाँ, जो अमृत घट के पास पहुँचने के लिए व्याकुल दिखती हैं, ऊँचाई का प्रभाव बढ़ा देती हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार एक अमलाशय योगी की महत्ता को उसकी अमृत ज्योति से आकृष्ट, संतप्त, तृषित साधकों की पंक्ति बढ़ा देती है, मानो ऊपर जाने के लिए प्रयत्नशील विराट् मानव के सौ-सौ हाथ नीचे से उन्नयनशील प्राणियों के उद्धार के लिए नीचे झुके हों, वैसे ही यह महान् शिखर करुणा की लम्बी बाँहों को पसारकर बड़ा हो गया है।

मन्दिर के मुख्यतः तीन भाग हैं—सामने से खुलने वाला अर्द्धमण्डप, उसके बाद सबसे पीछे गर्भगृह; गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा-पथ है और इस परिक्रमा-पथ की बाहरी दीवारों पर लगभग वैसी ही शिल्परचना है जैसी मन्दिर की बाहरी दीवारों पर है। गर्भगृह की ये बाहरी दीवारें मुख्य शिखर में जाकर मिल जाती हैं। गर्भगृह और मण्डप के बीच में अन्तराल है, वहाँ से खड़े होकर उपासक केन्द्रीय प्रतिमा के दर्शन पा सकता है। गर्भगृह की भीतरी दीवारों पर विराट् शून्यता है, चारों कोनों में चार दीपस्तम्भ और बीच में शिवलिङ्ग—कभी यह शिवलिङ्ग नीलम का था। अन्तराल के सामने वाले मण्डप में नृत्य, गीत या अन्य सामूहिक स्तुतियों के लिए जगह है। मण्डप के दोनों बाजुओं में दो छज्जे हैं जो बाहर की ओर खुलते हैं। ठीक इसी प्रकार के छज्जे गर्भगृह के तीन ओर हैं। मण्डप का चँदोवा जिन स्तम्भों पर टिका है उन पर शालभञ्जिकाओं की सुन्दर प्रतिमाएँ हैं। ये शालभञ्जिकाएँ सफलता और उर्वरता के प्रतीक के रूप में भरहुत-काल से ही प्रयुक्त रही हैं, पर खजुराहो-युग तक पहुँचते-पहुँचते इनका सौष्ठव उत्कर्ष पर पहुँच गया है। अर्द्धमण्डप की लम्बाई आने वाले उपासकों की लम्बी पंक्ति को मानो द्योतित करती है। मण्डप का चौकोरपन उपासक-समाज के सन्तुलन को द्योतित करता है तथा गर्भगृह का गह्वर गुह्यतम तत्व की गम्भीरता को प्रतिच्छायित करता है।

इस मन्दिर की भित्तियों पर तीन प्रकार की शिल्प-रचनाएँ हैं—एक तो अलंकरण जो पुष्प, विशेष रूप से कमल या अपराजिता, या ज्यामितिक आकृति

की धारावाहिक पट्टिकाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है; दूसरा आलों में देव-प्रतिमाओं का एक निश्चित क्रम-विन्यास; और तीसरा उन देव-प्रतिमाओं के परिपार्श्व में और नीचे-ऊपर विभिन्न अभिप्रायों को द्योतित करने वाली शिल्पपंक्ति। पुष्प अलंकरणों का मुख्य प्रयोजन उत्फुल्लता की सन्तान-परम्परा का अभिवर्द्धन है। देव-प्रतिमाओं का विन्यास ध्यान को केन्द्रित करने के लिए है तथा विविध अभिप्रायों की सार्थकता उस देव-प्रतिमा तक पहुँचने में जो मन की अनेक स्थितियाँ अनुकूल या प्रतिकूल आती हैं उनको द्योतित करता है। जो लोग यह नहीं जानते कि भारतीय संस्कृति की दृष्टि जगत् के प्रतिभासिक सौन्दर्य को जगदीश्वर से अपृथक् देखती है और इसीलिए वह मानुषिक प्रेम या उत्साह को निष्प्रयोजन न समझकर इनके उदात्तीकरण में ही देव-शक्तियों का उदय पाती है, उनके लिए यह मानी हुई बात है कि खजुराहो के अभिप्राय कामुकता के कलुष से प्रेरित लगेंगे। मैं इसलिए पहले इस पर विशेष बल देना चाहता हूँ कि खजुराहो के कलाकार के लिए धर्म कवच नहीं है। इसीलिए वह एकांगी शुचिता पर विश्वास नहीं करता। वह जन्म-जन्मान्तर की अशुचिता को प्रक्षालित करने की क्षमता रखने वाली अपरिसीम शुचिता में स्नान कर चुका है। उसके लिए कोई भी पार्थिव आनन्द अमंगल नहीं है। कोई भी पार्थिव प्रक्रिया अशिव नहीं है, कोई भी पार्थिव चेष्टा अप्रिय नहीं है। इन सब में वह शिव को, मंगल को और आनन्द को ढूंढ़ निकालता है। खजुराहो के मन्दिर उस परम-शिव और परम आनन्द की खोज की कहानी दूसरे माध्यम से दुहराते हैं जिसे कालिदास ने काव्य के और अभिनवगुप्त ने दर्शन के माध्यम से निबद्ध किया था। उनका मार्ग पार्थिव सौन्दर्य से विभ्रान्त या उन्मथित होने का नहीं है, बल्कि पार्थिव सौन्दर्य को मथकर, कन्दर्प के प्रत्येक शर-सन्धान को साधकर अपार्थिव और शाश्वत सौन्दर्य की प्राप्ति, या दूसरे शब्दों में कन्दर्पेश्वर से तादात्म्य की प्राप्ति, ही उस मार्ग का गन्तव्य है। वह श्रेय को प्रेय से अविभक्त देखने का अभ्यासी है। अलक्तक लगाने वाली सुन्दरी, अपनी मुक्त वेणी के मौक्तिकों से हंसों को लुभाने वाली अप्सरा, दर्पण में अपने स्वरूप की पहचान करने वाली जगन्माता की दूती, अपने उज्जृम्भण से जागरण का संकेत देने

वाली रूपसी, या वंशी के स्वर पर अनाहत नाद छेड़ने वाली प्रेम-प्रतिमा को अंकित करते समय वह एक क्षण के लिए भी यह नहीं भूलता कि ये सभी साधन हैं, साध्य नहीं। उसकी अर्चना का केन्द्र-विन्दु गर्भगृह में निराकुल अकेली प्रतिमा है जो रूप के इन आकर्षणों से परे है, जो इन आकर्षणों के द्वारा अपनी ही प्रभा छिटकाती है।

खजुराहो के इन मन्दिरों को जो देखने आये और इनसे कुछ पाने आये वह कम-से-कम अपने मन को खजुराहो के कलाकारों की भावभूमि तक पहुँचा के जरूर आये, नहीं तो वही पुरानी कहानी है जो यहाँ कितनी विचित्रता और विलक्षणता के साथ दुहरायी गयी है। उसे तब भारतीय संस्कृति का वह मूल स्वर सुनने को नहीं मिलेगा जो सांसारिक जीवन में रमाकर भी उसके ऊपर मनुष्य को ऊपर उठाने और विश्व के साथ एक-स्वर होने की प्रेरणा देता है।

———

८—आँगन में बैंगन

[हरिशंकर परसाई]

मेरे दोस्त के आँगन में इस साल बैंगन फल आये हैं। पिछले कई सालों से सपाट पड़े आँगन में जब बैंगन फल उठा तो ऐसी खुशी हुई जैसे बाँझ को ढलती उम्र में बच्चा हो गया हो। सारे परिवार की चेतना पर इन दिनों बैंगन सवार है। बच्चों को कहीं दूर पर बकरी भी दीख जाती है, तो वे समझते हैं कि वह हमारे बैंगन के पौधों को खाने के बारे में गम्भीरता से विचार कर रही है। वे चिल्लाने लगते हैं। पिछले कुछ दिनों से परिवार में बैंगन की ही बात होती है। जब भी जाता हूँ, परिवार की स्त्रियाँ कहती हैं—खाना खा लीजिए। घर के बैंगन बने हैं। 'जब वे 'भरे भटे' का अनुप्रास साधती हैं, तब उन्हें काव्यरचना का आनन्द आ जाता है। मेरा मित्र भी बैठक से चिल्लाता है—'अरे भई, बैंगन बने हैं कि नहीं ?' मुझे लगता है, आगे ये मुझसे 'चाय पी लीजिए' के बदले कहेंगी—'एक बैंगन खा लीजिए। घर के हैं।' और तश्तरी में बैंगन काटकर सामने रख देंगी। तब मैं क्या करूँगा ? शायद खा जाऊँ क्योंकि बैंगन चाहे जैसा लगे, भावना स्वादिष्ट होगी और मैं भावना में लपेटकर बैंगन की फाँक निगल जाऊँगा।

ये बैंगन घर के हैं और घर की चीज का गर्व विशेष होता है। अगर वह चीज घर में ही बनायी भी गयी हो, तो निर्माण का गर्व उसमें और जुड़ जाता है। मैंने देखा है, इस घर के बैंगन का गर्व स्त्रियों को ज्यादा है। घर और आँगन में जो है वह स्त्री के गर्व के क्षेत्र में आता है। इधर बोलचाल में पत्नी को 'मकान' कहा जाता है। उस दिन मेरा एक दोस्त दूसरे दोस्त को सपत्नीक भोजन के लिए निमन्त्रित कर रहा था। उसने पूछा—'हाँ', यह तो बताइए आपका 'मकान' गोश्त खाता है या नहीं ? पत्नी अगर 'मकान' कही

जाती है, तो पति 'चौराहा' कहलाना चाहिए। दोनों की पत्नियाँ जब मिलें तो एक का 'मकान' दूसरे के 'मकान' से पूछ सकता है—'बहन, तुम्हारा 'चौराहा' शराब पीता है या नहीं ?

लोग पान से लेकर बीवी तक घर की रखते है। इसमें बड़ा गर्व है और बड़ी सुविधा है। जी चाहा तब पान लगाकर खा लिया और जी हुआ तब पत्नी से लड़कर जीवन के कुछ क्षण सार्थक कर लिये। कुछ लोग मूर्ख भी घर के रखते हैं। और मेरे एक परिचित तो जुआड़ी भी घर के रखते हैं। दीवाली पर अपने बेटों के साथ बैठ कर जुआ खेल लेते हैं। कहते थे—'भगवान की दया से अपने चार बेटे हैं, सो घर में ही जुआ खेल लेते हैं।'

घर की चीज आपत्ति से भी परे होती है। आदमी स्वर्ग से इसलिये निकाला गया कि उसने दूसरे के बगीचे का सेब खा लिया था। माना कि वह बगीचा ईश्वर का था, पर फिर भी पराया था। अगर वह सेब उसके अपने बगीचे का होता, तो वह एतराज करने वाले से कह देता—"हाँ, हाँ, खाया तो अपने बगीचे का ही खाया। तुम्हारा क्या खा लिया ?' विश्वामित्र का 'वैसा' मामला अगर घर की औरत से होता, तो तपस्या भंग न होती। वे कह देते—'हाँ जी, हुआ। मगर वह हमारी औरत है। तुम पूछने वाले कौन होते हो ?' अगर कोई अपनी स्त्री को पीट रहा हो और पड़ोसी उसे रोकें, तो वह कैसे विश्वास से कह देता है—'वह हमारी औरत है। हम चाहें उसे पीटें, चाहें मार डालें। तुम्हें बीच में बोलने का क्या हक है।' ठीक कहता है वह। जब वह कद्दू काटता है, तब कोई ऐतराज नहीं करता, तो औरत को पीटने पर क्यों एतराज करते हैं ? जैसा कद्दू वैसी औरत। दोनों उसके घर के हैं। घर की चीज में यही निश्चिन्तता है। उसमें मजा भी विशेष है। बैंगन चाहे बाजार के बैंगन से घटियाँ हों, पर लगते अच्छे स्वादिष्ट हैं। घर के हैं न। मैंने लोगों को भयंकर कर्कशा को भी प्यार करते देखा है, क्योंकि वह घर की औरत है।

वैसे मुझे यह आशा नहीं थी कि यह मेरा दोस्त कभी आँगन में बैंगन का पौधा लगायेगा। कई सालों से आँगन सूना था। मगर मैं सोचता था कि चाहे देर से खिले, पर इस आँगन में गुलाब, चम्पा और चमेली के फूल ही खिलेंगे। बैंगन और भिण्डी जैसे भोंड़े पौधे को वह अपने आँगन में जमने नहीं देगा। पर इस साल जो नहीं होना था, वही हो गया। बैंगन लग गया। और वह रुचि से खाया भी जाने लगा। मेरे विश्वास को यह दोस्त कैसे धोखा दे गया। उसने शायद घबराकर बैंगन लगा लिया। बहुत लोगों के साथ ऐसा हो जाता है। गुलाब लगने के इन्तजार में साल गुजारते रहते हैं और फिर घबरा कर आँगन में बैंगन या भिण्डी लगा लेते हैं। मेरे एक परिचित ने इसी तरह अभी शादी की है—गुलाब के इंतज़ार से ऊबकर बैंगन लगा लिया है।

लेकिन इस मित्र की सौंदर्य-चेतना पर मुझे भरोसा था। न जाने कैसे उसके पेट से सौंदर्य चेतना प्रकट हो गयी। आगे हो सकता है, वह बेकरी को स्थापत्यकला का श्रेष्ठ नमूना मानने लगे और तन्दूरी रोटी की भट्टी में उसे अजन्ता के गुफा-चित्र नजर आयें।

इसे मैं बर्दाश्त कर लेता। बर्दाश्त तब नहीं हुआ, जब परिवार की एक तरुणी ने भी कहा—'अच्छा तो है। बैंगन खाये भी जा सकते हैं'। मैंने सोचा, हो गया सर्वनाश। सौंदर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया। सुन्दरी गुलाब से ज्यादा बैंगन को पसन्द करने लगी। मैंने कहा—'देवी, तू क्या उसी फूल को सुन्दर मानती है जिसमें से आगे चलकर आधा किलो सब्जी निकल आए। तेरी जाति कदम्ब के नीचे खड़ी होने वाली है, पर तू शायद हाथ में बाँस लेकर कटहल के नीचे खड़ी होगी। पुष्पलता और कद्दू की लता में क्या तू कोई फर्क नहीं समझती? तू क्या वंशी से चूल्हा फूंकेगी? और क्या वीणा के भीतर नमक-मिर्च रखेगी?

तभी मुझे याद आया कि अपने आँगन में तो कुछ भी नहीं है। दूसरे पर क्या हँसूँ? एक बार मैंने गेंदे का पौधा लगाया था। यह बड़ा गरीब, सर्वहारा

फूल होता है। कहीं भी जड़ें जमा लेता है। मैंने कहा—'हुजूर' अगर आप जम जाएँ और खिल उठें, तो मैं गुलाब लगाने की सोचूँ। 'मगर वह गेंदा भी मुरझाकर सूख गया। उसका डण्ठल बहुत दिनों तक जमीन में गड़ा हुआ मुझे चिढ़ाता रहा कि गेंदा तो आँगन में निभ नहीं सका, गुलाब रोपने की महत्वाकाँक्षा रखते हो। और मैं उसे जवाब देता—'अभागे मुझे ऐसा गेंदा नहीं चाहिए जो गुलाब का नाम लेने से ही मुरझा जाय। गुलाब को उखाड़ कर वहाँ जम जाने की जिसमें ताकत हो, ऐसा गेंदा मैं अपने आँगन में लगने दूँगा। मेरे घर के सामने के बँगले में घनी मेंहदी की दीवार सी उठी है। इसकी टहनी कहीं भी जड़ जमा लेती है। इसे ढोर भी नहीं खाते। यह सिर्फ सुन्दरियों को हथेली की शोभा बढ़ाती है और इसीलिए इसे पशु तक के लिए बेकार पौधे की रूमानी प्रतिष्ठा लोक-गीतों से लेकर नयी कविता तक में है। नेल पालिश के कारखानों ने मेंहदी की इज्जत अलबत्ता कुछ कम कर दी है। तो मैंने मेंहदी की कुछ कलमें आँगन में गाड़ दीं। दो-तीन दिन बाद आवारा ढोरों ने उन्हें रौंद डाला। मैं दुखी था। तभी अखबार में पढ़ा कि किसी 'हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्लाण्ट' का पैसा इंजीनियर और ठेकेदार खा गये और उसमें ऐसी घटिया सामग्री लगायी कि प्लाण्ट फूट गया और करोड़ों बरबाद हो गये। जो हाल मेरे मेंहदी के 'प्लाण्ट' का हुआ, वही सरकार के उस बिजली के 'प्लाण्ट' का हुआ—दोनों को उजाड़ू ढोरों ने रौंद डाला। मैंने इसे एक ही अनुभव से सीख लिया कि 'प्लाण्ट' रोपना हो तो उसकी रखवाली का इंतजाम पहले करना। भारत सरकार से पूछता हूँ कि मेरी सरकार, आप कब सीखेंगी? मैं तो अब 'प्लाण्ट' लगाऊँगा, तो पहले रखवाली के लिए कुत्ते पालूँगा। सरकार की मुश्किल यह है कि उसके कुत्ते वफादार नहीं हैं। उनमें से कुछ आवारा ढोरों पर लपकने के बदले, उनके आसपास दुम हिलाने लगते हैं।

फिर भी भारत सरकार के प्लाण्ट तो जम ही रहे हैं और आगे जम जायेंगे। उसके आँगन की जमीन अच्छी है और 'प्लाण्ट' सींचने को ४५ करोड़ लोग तैयार हैं। वे प्लाण्ट भी उन्हीं के हैं। सरकार तो सिर्फ मालिन है।

मेरे इस आँगन का अभी कुछ निश्चित नहीं है। बगल के मकान के अहाते से गुलाब की एक टहनी, जिस पर बड़ा-सा फूल खिलता है, हवा के झोंके से दीवार पर से गर्दन निकाल कर इधर झाँकती है। मैं देखता रहता हूँ। कहता हूँ—'तू ताक चाहे झाँक। मैं इस आँगन में अब पौधा नहीं रोपूँगा। यह अभागा है। इसमें बरसाती घास के सिवा कुछ नहीं उगेगा। सभी आँगन फूल खिलने लायक नहीं होते'। फूलों का क्या ठिकाना।' वे गँवारों के आँगन में भी खिल जाते हैं। एक आदमी को जानता हूँ, जिसे फूल सूँघने की तमीज नहीं है। पर उसके बगीचे में तरह-तरह के फूल खिले हैं। फूल भी कभी बड़ी बेशर्मी लाद लेते हैं और अच्छे खाद पर बिक जाते हैं।

मेरा एक मित्र कहता है कि 'तुम्हारे आँगन में कोमल फूल नहीं लग सकते। फूलों के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबन्द के आँगन में जम जायँ, पर तुम्हारे आँगन में नहीं जम सकते। वे कोमल होते हैं, तुम्हारे, व्यंग्य की लपट से जल जायेंगे। तुम तो अपने आँगन में बबूल, भटकटैया और धतूरा लगाओ। ये तुम्हारे बावजूद पनप जायेंगे। फिर देखना कौन किसे चुभता है—तुम बबूल को या बबूल तुम्हें ? कौन किसे बेहोश करता है—धतूरा तुम्हें या तुम धतूरे को ?

———

९—देवरथ

[जयशंकर 'प्रसाद']

दो-तीन रेखाएँ भाल पर, काली पुतलियों के समीप मोटी और काली बरौनियों का घेरा, घनी आपस में मिली रहने वाली भवें और नासा-पुट के नीचे हलकी-हलकी हरियाली उस तापसी के गोरे मुँह पर सबल अभिव्यक्ति की प्रेरणा प्रगट करती थीं।

यौवन, काषाय के कहीं छिप सकता है ? संसार को दुःखपूर्ण समझकर ही तो वह संघ की शरण में आई थी। उसके आशापूर्ण हृदय पर कितनी ही ठोकरें लगी थीं। तब भी यौवन ने साथ न छोड़ा। भिक्षुकी बन कर भी वह शान्ति न पा सकी थी। वह आज अत्यन्त अधीर थी।

चैत की अमावस्या का प्रभात था। अश्वत्थ वृक्ष की मिट्टी-सी सफेद डालों और तने पर ताम्र अरुण कोमल पत्तियां निकल आई थीं। उन पर प्रभात की किरणें पड़कर लोट-पोट हो जाती थीं। इतनी स्निग्ध शय्या उन्हें कहाँ मिली थी।

सुजाता सोच रही थी। आज अमावस्या है। अमावस्या तो उसके हृदय में सवेरे से ही अन्धकार भर रही थी। दिन का आलोक उसके लिए नहीं के बराबर था। वह अपने विशृंखल विचारों को छोड़कर कहाँ भाग जाय। शिकारियों का झुंड और अकेली हरिणी! उसकी आँखें बन्द थीं।

आर्य्यमित्र खड़ा रहा। उसने देख लिया कि सुजाता की समाधि अभी न खुलेगी। वह मुस्कुराने लगा। उसके कृत्रिम शील ने भी उसको वर्जित किया। संघ के नियमों ने उसके हृदय पर कोड़े लगाये; पर वह भिक्षु वहीं खड़ा रहा।

भीतर के अन्धकार से ऊब कर सुजाता ने आलोक के लिए आँखें खोल दीं। आर्य्यमित्र को देखकर आलोक की भीषणता उसकी आँखों के सामने नाचने लगी। उसने शक्ति बटोर कर कहा—वन्दे !

आर्य्यमित्र पुरुष था, भिक्षु था। भिक्षुकी का उसके सामने नत होना संघ का नियम था। आर्य्यमित्र ने हँसते हुए अभिवादन कर उत्तर दिया, और पूछा—सुजाता, आज तुम स्वस्थ हो ?

सुजाता उत्तर देना चाहती थी। पर...आर्य्यमित्र के काषाय के नवीन रंग में उसका मन उलझ रहा था। वह चाहती थी आर्य्यमित्र चला जाय; चला जाय उसकी चेतना के घेरे के बाहर। इधर वह अस्वस्थ थी, आर्य्यमित्र उसे औषधि देता था। संघ का वह वैद्य था। अब वह अच्छी हो गई है। उसे आर्य्यमित्र की आवश्यकता है नहीं; किन्तु...है तो...हृदय को उपचार की अत्यन्त आवश्यकता है। तब भी आर्य्यमित्र ! वह क्या करे। बोलना ही पड़ा।

'हां अब तो स्वस्थ हूँ।'

'अभी पथ्य सेवन करना होगा।'

'अच्छा।'

'मुझे और भी बात कहनी है।'

'क्या ? नहीं, क्षमा कीजिये। आपने कब से प्रव्रज्या ली है ?'

'वह सुनकर तुम क्या करोगी। संसार ही दुःखमय है।'

'ठीक तो... अच्छा, नमस्कार।'

आर्य्यमित्र चला गया; किन्तु उसके जाने से जो आन्दोलन आलोक-तरंग में उठा, उसी में सुजाता झूमने लगी थी। उसे मालूम नहीं, कब से महास्थविर उसके समीप खड़े थे।

* * * *

समुद्र का कोलाहल कुछ सुनने नहीं देता था। संध्या धीरे-धीरे विस्तृत नील जल राशि पर उतर रही थी। तरंगों पर तरंग बिखर कर चूर हो रही

थीं। सुजाता बालुका की शीतल वेदी पर बैठी हुई अपलक आँखों से उस क्षणिकता का अनुभव कर रही थी; किन्तु नीलाम्बुधि का महान सम्भार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की सम्पूर्णता धुंधली संध्या में मूर्तिमान हो रही थी। सुजाता बोल उठी।

'जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है, आत्मा के आलोक में अन्धकार कुछ नहीं है।'

सुजाता, यह क्या कह रही हो ?—पीछे से आर्य्यमित्र ने कहा।

'कौन, आर्य्यमित्र !'

'मैं भिक्षुनी क्यों हुई आर्य्यमित्र !'

'व्यर्थ सुजाता ! मैंने अमावस्या की गम्भीर रजनी में संघ के सम्मुख पापी होना स्वीकार कर लिया है। अपने कृत्रिम शील के आवरण में सुरक्षित नहीं रह सका। मैंने महास्थविर से कह दिया कि संघमित्र का पुत्र आर्य्यमित्र सांसारिक विभूतियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। कई पुरुषों की संचित महौषधियाँ कलिंग के राजवैद्य पद का सम्मान, सहज में छोड़ा नही जा सकता। मैं केवल सुजाता के लिये ही भिक्षु बना था। उसी का पता लगाने के लिए मैं इस नील विहार में आया था। वह मेरी वाग्दत्ता भावी पत्नी है।'

किन्तु आर्य्यमित्र, तुमने विलम्ब किया, मैं तुम्हारी पत्नी न हो सकूंगी।—सुजाता ने बीच ही में रोक कर कहा।

'क्यों सुजाता। यह काषाय क्या श्रृंखला है ? फेंक दो इसे। वाराणसी के स्वर्ण-खचित वसन ही तुम्हारे परिधान के लिए उपयुक्त हैं। रत्नमाला, मणि-कंकण और हेम-कांची तुम्हारी कमल-कोमल अंग-लता को सजावेंगी। तुम राजरानी बनोगी।

'किन्तु...'

'किन्तु क्या सुजाता ? मेरा हृदय फटा जाता है। बोलो, मैं संघ का बंधन

तोड़ चुका हूँ और तुम तो जीवन की, आत्मा की क्षणिकता में विश्वास नहीं करती हो ?

'किन्तु आर्य्यमित्र ! मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुलवधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं—कहाँ से लाऊँगी ? वह वरमाला जिसमें दूर्वा-सदृश कौमार्य्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक-कुसुम-सा हृदय रस भरा हो, कैसे, कहाँ से तुम्हें पहना सकूंगी ?'

क्यों सुजाता ? उसमें कौन-सी वाधा है !—कहते-कहते आर्य्यमित्र का स्वर कुछ तीक्ष्ण हो गया। वह अंगूठे से वालू विखेरने लगा।

'उसे सुनकर तुम क्या करोगे ? जाओ, राज-सुख भोगो। मुझ जन्म की दुखिया के पीछे अपना आनन्द-पूर्ण भविष्य-संसार नष्ट न करो आर्य्यमित्र ! जब तुमने संघ का वन्धन भी तोड़ दिया है, तब मुझ पामरी के मोह का वन्धन भी तोड़ डालो।

सुजाता के वक्ष में श्वास भर रहा था।

आर्य्यमित्र ने निर्जन समुद्र-तट के उस मलिन सायंकाल में, सुजाता का हाथ पकड़कर तीव्र स्वर में पूछा—सुजाता, स्पष्ट कहो; क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करती हो ?

'करती हूँ आर्य्यमित्र ! इसी का दुःख है। नहीं तो भैरवी के लिए किस उपभोग की कमी है।'

आर्य्यमित्र ने चौंककर सुजाता का हाथ छोड़ते हुए कहा—क्या कहा—भैरवी !

'हाँ आर्य्यमित्र ! मैं भैरवी हूँ, मेरी...'

आगे वह कुछ न कह सकी। आँखों से जल-विन्दु ढुलक रहे थे, जिसमें वेदना के समुद्र ऊर्मिल हो रहे थे।

आर्य्यमित्र अधीर होकर सोचने लगा—पारिवारिक पवित्र वन्धनों को तोड़कर जिस मुक्ति की—निर्वाण की—आशा में जनता दौड़ रही है, क्या उस

धर्म की यही सीमा है ! यह अन्धेर—गृहस्थों का सुख न देख सकने वालों का यह निर्मम दण्ड, समाज कब तक भोगेगा ?

सहसा प्रकृतिस्थ होकर उसने कहा—सुजाता ! मेरा सिर घूम रहा है, जैसे देवरथ का चक्र; परन्तु मैं तुमको अब भी पत्नी-रूप से ग्रहण करूँगा। सुजाता, चलो।

'किन्तु मैं तो तुम्हें पतिरूप से ग्रहण न कर सकूंगी। अपनी सारी लांछना तुम्हारे साथ बाँटकर जीवन-संगिनी बनने का दुस्साहस मैं न कर सकूंगी। आर्य्यमित्र, मुझे क्षमा करो ! मेरी वेदना रजनी से भी काली है और दुःख समुद्र से विस्तृत है। स्मरण है ? इसी महोदधि के तट पर बैठकर, सिकता में हम लोग अपना नाम साथ-ही-साथ लिखते थे। चिर-रोदनकारी निष्ठुर समुद्र अपनी लहरों की उँगली से उसे मिटा देता था। मिट जाने दो हृदय की सिकता से प्रेम का नाम ! आर्य्यमित्र, इस रजनी के अन्धकार में उसे विलीन हो जाने दो।'

'सुजाता'—सहसा एक कठोर स्वर सुनाई पड़ा।

दोनों ने घूमकर देखा, अन्धकार-सी भीषण मूर्ति, संघ-स्थविर !

*　　*　　*　　*

उनके जीवन के परमाणु बिखर रहे थे। निशा की कालिमा में, सुजाता सिर झुकाये हुए बैठी, देव-प्रतिमा की रथ-यात्रा का समारोह देख रही थी; किन्तु दौड़कर छिप जाने वाले मूक दृश्य के समान वह किसी को समझ न पाती थी। स्थविर ने उसके सामने आकर कहा—सुजाता, तुमने प्रायश्चित्त किया।

किसके पाप का प्रायश्चित्त ! तुम्हारे या अपने ?—तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा।

'अपने और आर्य्यमित्र के पापों का—सुजाता ! तुमने अविश्वासी हृदय से धर्म-द्रोह किया है।'

'धर्मद्रोह ! आश्चर्य ! !'

'तुम्हारा शरीर देवता को समर्पित था सुजाता ! तुमने...'

बीच ही में उसे रोककर तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा—चुप रहो असत्य-वादी। वज्रयानी नर-पिशाच............

एक क्षण में उस भीषण मनुष्य की कृत्रिम शान्ति विलीन हो गई। उसने दांत किट-किटाकर कहा—मृत्यु-दण्ड !

सुजाता ने उसकी ओर देखते हुए कहा—कठोर से भी कठोर मृत्यु-दण्ड मेरे लिए कोमल है। मेरे लिए इस स्नेहमयी धरणी पर बचा ही क्या है ? स्थविर ! तुम्हारा धर्म शासन घरों को चूर-चूर करके बिहारों की सृष्टि करता है—कुचक्र में जीवन को फँसाता है। पवित्र गार्हस्थ्य बन्धनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम वदल देते हो। तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थों से भी तीव्र है, क्षुद्र है और निम्न-कोटि की है !

'किन्तु सुजाता तुमको मरना होगा।

'तो मरूँगी स्थविर; किन्तु तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बरपूर्ण धर्म भी मरेगा। मनुष्यता का नाश करके कोई भी धर्म खड़ा नहीं रह सकता !'

'कल ही।'

'हाँ, कल प्रभात में तुम देखोगे कि सुजाता कैसे मरती है !'

सुजाता मन्दिर के विशाल स्तम्भ से टिकी हुई, रात्रि व्यापी उत्सव को स्थिर दृष्टि से देखती रही। एक वार उसने धीरे से पूछा—

देवता, यह उत्सव क्यों ? क्या जीवन की यंत्रणाओं से तुम्हारी पूजा का उपकरण संग्रह किया जाता है ?

प्रतिमा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

प्रभात की किरणें मन्दिर के शिखर पर हँसने लगीं।

देव-विग्रह ने रथ-यात्रा के लिए प्रयाण किया। जनता तुमुलनाद से जय-घोष करने लगी।

सुजाता ने देखा, पुजारियों के दल में कौशेय वसन पहने हुए आर्य्यमित्र भी भक्ति-भाव से चला जा रहा है। उसकी इच्छा हुई कि आर्य्यमित्र को बुलाकर कहे कि वह उसके साथ चलने को प्रस्तुत है।

सम्पूर्ण बल से उसने पुकारा—आर्य्यमित्र !

किन्तु उस कोलाहल में कौन सुनता है। देवरथ विस्तीर्ण राज-पथ से चलने लगा। उसके दृढ़ चक्र धरणी की छाती में गहरी लीक डालते हुए आगे बढ़ने लगे। उस जन समुद्र में सुजाता फांद पड़ी और एक क्षण में उसका शरीर देवरथ के भीषण चक्र से पिस उठा।

रथ खड़ा हो गया। स्थविर ने हेय दृष्टि से सुजाता के शव को देखा। अभी वह कुछ बोलना ही चाहता था कि दर्शकों और पुजारियों का दल, 'काला पहाड़ ! काला पहाड़ ! !' चिल्लाता हुआ इधर-उधर भागने लगा। धूलि की घटा में बरछियों की बिजलियाँ चमकने लगीं।

देव-विग्रह एकाकी धर्मोन्मत्त 'काला पहाड़' के अश्वारोहियों से घिर गया—रथ पर था देव-विग्रह और नीचे सुजाता का शव।

———

१०—नशा

[प्रेमचन्द्र]

ईश्वरी एक बड़े जमींदार का लड़का था और मैं एक गरीब क्लर्क का, जिसके पास मेहनत-मजूरी के सिवा और कोई जायदाद न थी। हम दोनों में परस्पर वहसें होती रहती थीं। मैं जमींदारों की बुराई करता, उन्हें हिंसक, पशु, और खून चूसने वाली जोंक और वृक्षों की चोटी पर फूलने वाला बंझा कहता। वह जमींदारों का पक्ष लेता; पर स्वभावत: उसका पहलू कुछ कमजोर होता था; क्योंकि उसके पास जमींदारों के अनुकूल कोई दलील न थी। यह कहना कि सभी मनुष्य बराबर नहीं होते छोटे-बड़े हमेशा होते रहे हैं और होते रहेंगे, लाचार दलील थी। किसी मानुषीय या नैतिक नियम से इस व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करना कठिन था। मैं इस वाद-विवाद की गर्मा-गर्मी में अक्सर तेज हो जाता और लगने वाली बातें कह जाता; लेकिन ईश्वरी हारकर भी मुस्कराता रहता था। मैंने उसे कभी रोते नहीं देखा। शायद इसका कारण यह था कि वह अपने पक्ष की कमजोरी को समझता था। नौकरों से वह सीधे मुँह बात न करता था। अमीरों में जो एक बेदर्दी और उद्दण्डता होती है, उसमें उसे भी प्रचुर भाग मिला था। नौकर ने विस्तर लगाने में जरा भी देर की, दूध जरूरत से ज्यादा गर्म या ठन्डा हुआ, साइकिल अच्छी तरह साफ नहीं हुई, तो वह आपे से बाहर हो जाता। सुस्ती या बदतमीजी उसे जरा भी बर्दाश्त न थी; पर दोस्तों से और विशेषकर मुझसे उसका व्यवहार सौहार्द और नम्रता से भरा होता था। शायद उसकी जगह मैं होता, तो मुझमें भी वही कठोरताएँ पैदा हो जातीं, जो उसमें थीं; क्योंकि मेरा लोक-प्रेम सिद्धान्तों पर नहीं, निजी दशाओं पर टिका हुआ था, लेकिन वह मेरी जगह होकर भी शायद अमीर ही रहता; क्योंकि वह प्रकृति से ही विलासी और ऐश्वर्य-प्रिय था।

अब की दशहरे की छुट्टिओं में मैंने निश्चय किया कि घर न जाऊँगा। मेरे पास किराये के लिए रुपये न थे और न मैं घर वालों को तकलीफ देना चाहता था। मैं जानता हूँ, वे मुझे जो कुछ देते हैं वह उनकी हैसियत से बहुत ज्यादा है। इसके साथ ही परीक्षा का भी खयाल था। अभी बहुत कुछ पढ़ना बाकी था और घर जाकर कौन पढ़ता है। बोर्डिंग हाउस में भूत की तरह अकेले पड़े रहने को भी जी न चाहता था। इसलिए जब ईश्वरी ने मुझे अपने घर चलने का नेवता दिया तो मैं बिना आग्रह के ही राजी हो गया। ईश्वरी के साथ परीक्षा की तैयारी खूब हो जायगी। वह अमीर होकर भी मेहनती और जहीन है।

उसने इसके साथ ही कहा—लेकिन भाई, एक बात का खयाल रखना। वहां अगर जमींदारों की निन्दा की तो मुआमला बिगड़ जायगा और मेरे घर वालों को बुरा लगेगा। वह लोग तो असामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। असामी भी यही समझता है। अगर उसे सुझा दिया जाय कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे।

मैंने कहा—तो क्या तुम समझते हो कि मैं वहाँ जाकर कुछ और हो जाऊँगा?

'हाँ, मैं तो यही समझता हूँ।'

'तो तुम गलत समझते हो।

ईश्वरी ने इसका कोई जवाब न दिया कदाचित् उसने इस मुआमले को मेरे विवेक पर छोड़ दिया और बहुत अच्छा किया। अगर वह अपनी बात पर अड़ता तो मैं भी जिद पकड़ लेता।

(२)

सेकेण्ड क्लास तो क्या, मैंने कभी इन्टर क्लास में भी सफर न किया था। अबकी सेकेण्ड क्लास में सफर करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गाड़ी तो नौ बजे रात को आती थी; पर यात्रा के हर्ष में हम शाम को ही स्टेशन जा पहुँचे।

कुछ देर इधर-उधर सैर करने के वाद रिफ्रेशमेंटरूम में जाकर हम लोगों ने भोजन किया। मेरी वेश-भूषा और रंग-ढंग से पारखी खानसामाओं को यह पहचानने में देर न लगी, कि मालिक कौन है और पिछ-लग्गू कौन; लेकिन न जाने क्यों मुझे उनकी गुस्ताखी बुरी लग रही थी। पैसे ईश्वरी के जेब से गये। शायद मेरे पिता को जो वेतन मिलता है, उससे ज्यादा इन खानसामाओं को इनाम-इकराम में मिल जाता हो! एक अठन्नी तो चलते समय ईश्वरी ही ने दी। फिर भी मैं उन सभी से उसी तत्परता और विनय की प्रतीक्षा करता था, जिससे वे ईश्वरी की सेवा कर रहे थे! क्यों ईश्वरी के हुक्म पर सब-के-सब दौड़ते हैं; लेकिन मैं चीज मांगता हूँ तो उतना उत्साह नहीं दिखाते? मुझे भोजन में कुछ स्वाद न मिला। यह भेद मेरे ध्यान को सम्पूर्ण रूप से अपनी ओर खींचे हुए था।

गाड़ी आई, हम दोनों सवार हुए, खानसामाओं ने ईश्वरी को सलाम किया। मेरी ओर देखा भी नहीं।

ईश्वरी ने कहा—कितने तमीजदार हैं ये सब। एक हमारे नौकर हैं कि कोई काम करने का ढंग नहीं।

मैंने खट्टे मन से कहा—इसी तरह अगर तुम अपने नौकरों को भी आठ आने रोज इनाम दिया करो तो शायद इससे ज्यादा तमीजदार हो जायँ।

'तो क्या तुम समझते हो यह सब केवल इनाम के लालच से इतना अदब करते हैं?'

'जी, नहीं, कदापि नहीं, तमीज और अदब तो इनके रक्त में मिल गया है।'

गाड़ी चली। डाक थी। प्रयाग से चली तो परतापगढ़ जाकर रुकी। एक आदमी ने हमारा कमरा खोला। मैं तुरन्त चिल्ला उठा—दूसरा दरजा है—सेकेण्ड क्लास है।

उस मुसाफिर ने डब्बे के अन्दर आकर मेरी ओर एक विचित्र उपेक्षा की

दृष्टि से देखकर कहा—जी हाँ सेवक भी इतना समझता है।—और बीच वाले बर्थ पर बैठ गया। मुझे कितनी लज्जा आई, कह नहीं सकता। भोर होते-होते हम लोग मुरादाबाद पहुँचे। स्टेशन पर कई आदमी हमारा स्वागत करने के लिए खड़े थे। दो भद्र पुरुष थे। पाँच बेगार। बेगारों ने हमारा लगेज उठाया। दोनों भद्र पुरुष पीछे-पीछे चले। एक मुसलमान था, रियासत अली; दूसरा ब्राह्मण था, रामहरख। दोनों ने मेरी ओर अपरिचित नेत्रों से देखा, मानो कह रहे हों, तुम कौवे होकर हंस के साथ कैसे ?

रियासतअली ने ईश्वरी से पूछा—यह बाबू साहब क्या आपके साथ पढ़ते हैं ?

ईश्वरी ने जवाब दिया—हां, साथ पढ़ते भी हैं, और साथ रहते भी हैं। यों कहिए कि आप ही की बदौलत मैं इलाहाबाद में पड़ा हुआ हूँ, नहीं कब का लखनऊ चला आया होता। अब की मैं इन्हें घसीट लाया। इनके घर से कई तार आ चुके थे; मगर मैंने इन्कारी जवाब दिलवा दिये आखिरी तार अर्जेण्ट था, जिसकी फीस चार आने प्रति शब्द हैं; पर यहाँ से भी उसका जवाब इन्कारी ही गया।

दोनों सज्जनों ने मेरी ओर चकित नेत्रों से देखा। आतंकित हो जाने की चेष्टा करते हुए जान पड़े।

रियासतअली ने अर्द्ध शंका के स्वर में कहा—लेकिन आप बड़े सादे लिबास में रहते हैं।

ईश्वरी ने शंका निवारण की—महात्मा गांधी के भक्त हैं साहब ! खद्दर के सिवा कुछ पहनते ही नहीं। पुराने सारे कपड़े जला डाले। यों कहो कि राजा हैं। ढाई लाख सालना की रियासत है; पर आपकी सूरत देखो तो मालूम होता है, अभी अनाथालय से पकड़ कर आये हैं।

रामहरख बोले—अमीरों का ऐसा स्वभाव बहुत कम देखने में आता है। कोई भांप ही नहीं सकता।

रियासतअली ने समर्थन किया—आपने महाराजा चांगली को देखा होता तो दांतों उँगली दबाते। एक गाढ़े की मिर्जई और चमरौधे जूते पहने बाजारों में घूमा करते थे। सुनते हैं, एक बार बेगार थे पकड़े गये थे और उन्हीं ने दस लाख से कालेज खोल दिया।

मैं मन में कटा जा रहा था; पर न जाने क्या बात थी कि यह सफेद झूठ उस वक्त मुझे हास्यास्पद न जान पड़ा। उसके प्रत्येक वाक्य के साथ मानो मैं उस कल्पित वैभव के समीपतर आता जाता था।

मैं शहसवार नहीं हूँ। हाँ लड़कपन में कई बार लद्दू घोड़ों पर सवार हुआ हूँ। यहाँ देखा तो दो कलां-रास घोड़े हमारे लिए तैयार खड़े थे। मेरी तो जान ही निकल गई। सवार तो हुआ; पर बोटियाँ कांप रही थीं, मैंने चेहरे पर शिकन न पड़ने दिया। घोड़े को ईश्वरी के पीछे डाल दिया। खैरियत यह हुई कि ईश्वरी ये घोड़े को तेज न किया, वरना शायद हाथ-पांव तुड़वाकर लौटता। सम्भव है, ईश्वरी ने समझ लिया हो कि यह कितने पानी में हैं।

(३)

ईश्वरी का घर क्या था, किला था। इमामबाड़े का-सा फाटक, द्वार पर पहरेदार टहलता हुआ, नौकरों का कोई हिसाब नहीं, एक हाथी बँधा हुआ। ईश्वरी ने अपने पिता, चाचा, ताऊ आदि सबसे मेरा परिचय कराया और उसी अतिशयोक्ति के साथ। ऐसी हवा बांधी कि कुछ न पूछिए। नौकर-चाकर ही नहीं, घर के लोग भी सम्मान करने लगे, देहात के जमींदार लाखों का मुनाफा; मगर पुलिस कान्स्टेबिल को भी अफसर समझने वाले। कई महाशय तो मुझे हुजूर-हुजूर कहने लगे।

जब जरा एकान्त हुआ, तो मैंने ईश्वरी से कहा—तुम बड़े शैतान हो यार, मेरी मिट्टी क्यों पलीद कर रहे हो।

ईश्वरी ने सुदृढ़ मुस्कान के साथ कहा—इन गधों के सामने यही चाल जरूरी थी; वरना सीधे मुंह बोलते भी नहीं।

जरा देर बाद एक नाई हमारे पांव दबाने आया। कुंवर लोग स्टेशन से आये हैं, थक गये होंगे। ईश्वरी ने मेरी ओर इशारा करके कहा—पहले कुंवर साहब के पांव दबा।

मैं चारपाई पर लेटा हुआ था। जीवन में ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि किसी ने मेरे पांव दबाये हों। मैं इसे अमीरों के चोंचले, रईसों का गधापन और बड़े आदमियों की मुटमरदी और जाने क्या-क्या कहकर ईश्वरी का परिहास किया करता और आज मैं पौतड़ों का रईस बनने का स्वांग भर रहा था।

इतने में दस बज गये। पुरानी सभ्यता के लोग थे। नई रोशनी अभी केवल पहाड़ की चोटी तक पहुँच पाई थी। अन्दर से भोजन का बुलावा आया। हम स्नान करने चले, मैं हमेशा अपनी धोती खुद छांट लिया करता हूँ, मगर यहाँ मैंने ईश्वरी की ही भाँति अपनी धोती भी छोड़ दी। अपने हाथों अपनी धोती छांटते बड़ी शर्म आ रही थी। अन्दर भोजन करने चले। होस्टल में जूते पहने मेज पर जा डटते थे। यहाँ पाँव धोना आवश्यक था। कहार पानी लिए खड़ा था। ईश्वरी ने पांव बढ़ा दिए। कहार ने उसके पांव धोए। मैंने भी पांव बढ़ा दिए। कहार ने मेरे पाँव भी धोए। मेरा वह विचार न जाने कहाँ चला गया था।

(४)

सोचा था वहाँ देहात में एकाग्र होकर खूब पढ़ेंगे; पर यहाँ सारा दिन सैर सपाटे में कट जाता था। कहीं नदी में बजरे पर सैर कर रहे हैं। कहीं मछलियों या चिड़ियों का शिकार खेल रहे हैं। कहीं पहलवानों की कुश्ती देख रहे हैं, कहीं शतरंज पर जमे हैं। ईश्वरी खूब अण्डे मँगवाता और कमरे में 'स्टोव' पर आमलेट बनते। नौकरों का एक जत्था हमेशा घेरे रहता। अपने हाथ-पाँव को हिलाने की कोई जरूरत नहीं, केवल जबान हिला देना काफी हैं। नहाने बैठे तो आदमी नहलाने को हाजिर, लेटे तो दो आदमी पंखा झलने

को खड़े। मैं महात्मा गांधी का कुंवर चेला मशहूर था। भीतर से बाहर तक मेरी धाक थी। नाश्ते में जरा भी देर न होने पाये, कहीं कुंवर साहब नाराज न हो जायं, बिछावन ठीक समय पर लग जाय, कुंवर साहब के सोने का समय आ गया। मैं ईश्वरी से भी ज्यादा नाजुक दिमाग बन गया था, या बनने पर मजबूर कियां गया था। ईश्वरी अपने हाथ से बिस्तर बिछा ले, लेकिन कुंवर मेहमान अपने हाथों कैसे अपना बिछावन बिछा सकते। उनकी महानता में बट्टा लग जायगा।

एक दिन सचमुच यही बात हो गई। ईश्वरी घर में थे, शायद अपनी माता से कुछ बातचीत करने में देर हो गई। यहाँ दस बज गये। मेरी आँखें नींद से झपक रही थीं। मगर बिस्तर कैसे लगाऊँ। कुंवर जो ठहरा। कोई साढ़े ग्यारह बजे महरा आया। बड़ा मुंह-लगा नौकर था। घर के धन्धों में मेरा बिस्तर लगाने की उसे सुधि ही न रही। अब जो याद आई, तो भागा हुआ आया। मैंने ऐसी डांट बताई कि उसने भी याद किया होगा।

ईश्वरी मेरी डांट सुनकर बाहर निकल आया और बोला—तुमने बहुत अच्छा किया। यह सब हरामखोर इसी व्यवहार के योग्य हैं।

इसी तरह ईश्वरी एक दिन एक जगह दावत में गया हुआ था। शाम हो गई मगर लैम्प न जला, लैम्प मेज पर रक्खा था। दियासलाई भी वहीं थी, लेकिन ईश्वरी खुद कभी लैम्प नहीं जलाता। फिर कुंअर साहब कैसे जलायें? मैं झुँझला रहा था। समाचार-पत्र आया रक्खा हुआ था। जी उधर लगा हुआ था, पर लैम्प नदारद। दैवयोग से उसी वक्त मुन्शी रियासतअली आ निकले। मैं उन्हीं पर उबल पड़ा। ऐसी फटकार बताई कि बेचारा उल्लू हो गया—तुम लोगों को इतनी फिक्र भी नहीं कि लैम्प तो जलवा दो! मालूम नहीं, ऐसे कामचोर आदमियों का यहाँ कैसे गुजर होता है। मेरे यहाँ घण्टे भर निवाह न हो। रियासतअली ने कांपते हुए हाथों में लैम्प जला दिया।

वहाँ एक ठाकुर अक्सर आया करता था। कुछ मनचला आदमी था, महात्मा गांधी का परम भक्त। मुझे महात्मा जी का चेला समझकर मेरा बड़ा लिहाज करता था; पर मुझसे कुछ पूछते संकोच करता था। एक दिन मुझे अकेला देखकर आया और हाथ बांधकर बोला—सरकार तो गांधी बाबा के चेले हैं न ? लोग कहते हैं कि यहाँ सुराज हो जायगा तो जमींदार न रहेंगे।

मैंने शान जमाई। जमींदारों के रहने की जरूरत ही क्या है ? यह लोग गरीबों का खून चूसने के सिवा और क्या करते हैं ?

ठाकुर ने फिर पूछा—तो क्यों सरकार, सब जमींदारों की जमीन छिन जायगी ?

मैंने कहा—बहुत से लोग तो खुशी से दे देंगे। जो लोग खुशी से न देंगे उनकी जमीन छीननी ही पड़ेगी। हम लोग तो तैयार बैठे हुए हैं। ज्योंही स्वराज्य हुआ, अपने सारे इलाके असामियों के नाम हिबा कर देंगे।

मैं कुर्सी पर पाँव लटकाये बैठा था। ठाकुर मेरे पांव दबाने लगा। फिर बोला—आजकल जमींदार लोग बड़ा जुलुम करते हैं सरकार ! हमें भी हजूर अपने इलाके में थोड़ी सी जमीन दे दें, तो चलकर वहीं आपकी सेवा में रहें।

मैंने कहा—अभी तो मेरा कोई अख्तियार नहीं है भाई, लेकिन ज्योंही अख्तियार मिला, मैं सबसे पहले तुम्हें बुलाऊँगा। तुम्हें मोटर ड्राइवरी सिखा कर अपना ड्राइवर बना लूंगा।

सुना, उस दिन ठाकुर ने खूब भंग पी और अपनी स्त्री को खूब पीटा और गांव के महाजन से लड़ने पर तैयार हो गया।

(५)

छुट्टी इस तरह समाप्त हुई और हम फिर प्रयाग चले। गाँव के बहुत से लोग हम लोगों को पहुँचाने आए। ठाकुर तो हमारे साथ स्टेशन तक आया। मैंने भी अपना पार्ट खूब सफाई से खेला और अपनी कुबेरोचित विनय और देवत्व की मुहर हरेक के हृदय पर लगा दी। जी तो चाहता था हरेक नौकर को अच्छा

इनाम दूं; लेकिन वह सामर्थ्य कहां थी ? वापसी टिकट था ही, केवल गाड़ी में बैठना था ! पर गाड़ी आई तो ठसाठस भरी हुई। दुर्गापूजा की छुट्टियां भोग कर सभी लौट रहे थे। सेकेण्ड क्लास में तिल रखने की जगह नहीं। इण्टर क्लास की हालत उससे भी बतदर। यह आखिरी गाड़ी थी। किसी तरह रुक न सकते थे बड़ी मुश्किल से तीसरे दरजे में जगह मिली। हमारे ऐश्वर्य ने वहां अपना रंग जमा लिया; मगर मुझे उसमें बैठना बुरा लग रहा था। आये थे आराम से लेटे-लेटे, जा रहे थे सिकुड़े हुए। पहलू बदलने की जगह न थी।

कई आदमी पढ़े-लिखे भी थे। आपस में अंग्रेजी राज्य की तारीफ़ करते जा रहे थे। एक महाशय बोले—ऐसा न्याय तो किसी राज्य में नहीं देखा। छोटे बड़े सब बराबर। राजा भी किसी पर अन्याय करे, तो अदालत उसकी भी गर्दन दबा देती है।

दूसरे सज्जन ने समर्थन किया—अरे साहब, आप खुद बादशाह पर दावा कर सकते हैं। अदालत में बादशाह पर भी डिग्री हो जाती है।

एक आदमी, जिसकी पीठ पर बड़ा सा गट्ठर बँधा था कलकत्ते जा रहा था। कहीं गठरी रखने की जगह न मिलती थी। पीठ पर बांधे हुए था। इससे बेचैन होकर बार-बार द्वार पर खड़ा हो जाता। मैं द्वार के पास ही बैठा हुआ था। उसका बार-बार आकर मेरे मुंह को अपनी गठरी से रगड़ना मुझे बहुत बुरा लग रहा था। एक तो हवा ही कम थी, दूसरे उस गँवार का आकर मेरे मुंह पर खड़ा हो जाना मानो मेरा गला दबाना था। मैं कुछ देर तक जब्त किये बैठा रहा। एका-एक मुझे क्रोध आ गया। मैंने उसे पकड़ कर पीछे ढकेल दिया और तमाचे जोर-जोर से लगाये।

उसने आंखें निकाल कर कहा—क्यों मारते हो बाबू जी, हमने भी किराया दिया है।

मैंने उठ कर दो तीन तमाचे और जड़ दिये।

गाड़ी में तूफान आ गया। चारों ओर से मुझ पर बौछार पड़ने लगी।

"अगर इतने नाजुक मिजाज हो तो अव्वल दर्जे में क्यों नहीं बैठे ?"

'कोई बड़ा आदमी होगा तो अपने घर का होगा, मुझे इस तरह मारते, तो दिखा देता।'

'क्या कसूर किया था बेचारे ने। गाडी में सांस लेने की जगह नहीं, खिड़की पर जरा सांस लेने खड़ा हो गया तो उस पर इतना क्रोध !

अमीर होकर क्या आदमी अपनी इन्सानियत बिलकुल खो देता है ?'

'यह भी अंग्रेजी राज है, जिसका आप बखान कर रहे थे।'

एक ग्रामीण बोला—दफतरन मां घुसन तो पावत नहीं, उस पर इत्ता मिजाज !

ईश्वरी ने अंग्रेजी में कहा—**What an idiot you are, sir !**

और मेरा नशा अब कुछ-कुछ उतरता हुआ मालूम होता था।

११—मुगलों ने सल्तनत बख्श दी

[भगवती चरण वर्मा]

हीरोजी को आप नहीं जानते, और यह दुर्भाग्य की बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आपका दुर्भाग्य है, दुर्भाग्य हीरोजी का भी है। कारण, बड़ा सीधा-सादा है। यदि आपका हीरोजी से परिचय हो जाय तो आप निश्चय समझ लें कि आपका संसार के एक बहुत बड़े विद्वान से परिचय हो गया। हीरोजी के जाननेवालों में अधिकांश का मत है कि हीरोजी पहले जन्म में विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक अवश्य रहे होंगे और अपने किसी पाप के कारण उनको इस जन्म में हीरोजी की योनि प्राप्त हुई। अगर हीरोजी का आपसे परिचय हो जाय तो आप यह समझ लीजिए कि उन्हें एक मनुष्य अधिक मिल गया, जो उन्हें अपने शौक में प्रसन्नतापूर्वक एक हिस्सा दे सके।

हीरोजी ने दुनिया देखी है। यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि हीरोजी की दुनिया मौज और मस्ती की ही बनी हैं। शराबियों के साथ बैठकर उन्होंने शराब पीने की बाजी लगाई है और हरदम जीते हैं। अफीम के आदी नहीं हैं, पर अगर मिल जाय तो इतनी खा लेते हैं, जितने से एक खानदान का खानदान स्वर्ग की या नरक की यात्रा कर सके। भंग पीते हैं तब तक, जब तक उनका पेट न भर जाय। चरस और गाँजे के लोभ में तो साधू बनते-बनते बच गए। एक बार एक आदमी ने उन्हें संखिया खिला दी थी, इस आशा से कि संसार एक पापी के भार से मुक्त हो जाय। पर दूसरे ही दिन हीरोजी उसके यहाँ पहुँचे। हँसते हुए उन्होंने कहा—"यार कल का नशा नशा था। राम दुहाई, अगर आज भी वह नशा करवा देते तो तुम्हें आशीर्वाद देता।" लेकिन उस आदमी के पास संखिया मौजूद न थी।

हीरोजी के दर्शन प्रायः चाय की दुकान पर हुआ करते हैं। जो पहुँचता है, वह हीरोजी को एक प्याला चाय अवश्य पिलाता है। उस दिन जब हम

लोग चाय पीने पहुँचे तो हीरोजी एक कोने में आँखें बन्द किए हुए बैठे कुछ सोच रहे थे। हम लोगों में बातें शुरू हो गईं और हरिजन आंदोलन से घूमते फिरते बात आ पहुँची दानवराज बलि पर। पंडित गोवर्द्धन शास्त्री ने आमलेट का टुकड़ा मुँह में डालते हुए कहा—"भाई, यह तो कलियुग है। न किसी में दीन है न ईमान। कौड़ी-कौड़ी पर लोग बेइमानी करने लग गए हैं। अरे अब तो लिखकर भी लोग मुकर जाते हैं। एक युग था, जब दानव तक अपना वचन निभाते थे, सुरों और नरों की तो बात ही छोड़ दीजिए। दानवराज बलि ने वचनबद्ध होकर सारी पृथ्वी दान कर दी थी। पृथ्वी ही काहे को, स्वयं अपने को भी दान कर दिया था।"

हीरोजी चौंक उठे। खाँस कर उन्होंने कहा—"क्या बात है! जरा फिर से तो कहना?"

सब लोग हीरोजी की ओर घूम पड़े। कोई नई बात सुनने को मिलेगी, इस आशा से मनोहर ने शास्त्री जी के शब्दों को दुहराने का कष्ट उठाया—"हीरोजी! ये गोवर्द्धन शास्त्री जो हैं, सो कह रहे हैं कि कलियुग में धर्म-कर्म सब लोप हो गया। त्रेता में तो दैत्यराज बलि तक ने अपना सब कुछ केवल वचनबद्ध होकर दान कर दिया था।"

हीरोजी हँस पड़े—"हाँ, तो यह गोवर्द्धन शास्त्री कहनेवाले हुए और तुम लोग सुननेवाले, ठीक ही है। लेकिन हमसे सुनो, यह तो कह रहे हैं त्रेता की बात, अरे तब तो अकेले बलि ने ऐसा कर दिया था, लेकिन मैं कहता हूँ कलियुग की बात। कलियुग में तो एक आदमी की कही हुई बात को उसकी सात-आठ पीढ़ी तक निभाती गई और यद्यपि वह पीढ़ी स्वयं नष्ट हो गई, लेकिन उसने अपना वचन नहीं तोड़ा।"

हम लोग आश्चर्य में आ गए। हीरोजी की बात समझ में नहीं आई, पूछना पड़ा—"हीरोजी, कलियुग में किसने इस प्रकार अपने वचनों का पालन किया?"

"लौंडे हो न !" हीरोजी ने मुँह बनाते हुए कहा—"जानते हो मुगलों की सल्तनत कैसे गई ?"

"हाँ ! अँगरेजों ने उससे छीन ली।"

"तभी तो कहता हूँ कि तुम सब लौंडे हो। स्कूली किताबों को रट-रट बन गये पढ़े-लिखे आदमी। अरे मुगलों ने अपनी सल्तनत अंगरेजों को बख्श दी।"

हीरोजी ने यह कौन-सा नया इतिहास बनाया ? आँखें कुछ अधिक खुल गईं। कान खड़े हो गए। मैंने कहा—"सो कैसे ?"

"अच्छा, तो फिर सुनो !" हीरोजी ने आरम्भ किया—

"जानते हो, शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की शाहजादी रौशनआरा एक दफे बीमार पड़ी थी, और उसे एक अंगरेज डाक्टर ने अच्छा किया था। उस डाक्टर को शाहंशाह शाहजहाँ ने हिन्दुस्तान में तिजारत करने के लिए कलकत्ते में कोठी बनाने की इजाजत दे दी थी।"

"हाँ, यह तो हम लोगों ने पढ़ा है।"

"लेकिन असल बात यह है कि शाहजादी रौशनआरा, वही शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की—हाँ वही शहजादी रौशनआरा एक दफे जल गई। अधिक नहीं जली थी। अरे हाथ में थोड़ा-सा जल गई थी, लेकिन जल तो गई थी और थी शाहजादी। बड़े-बड़े हकीम और वैद्य बुलाये गएँ। इलाज किया गया। लेकिन शाहजादी को कोई अच्छा न कर सका—न कर सका। और शाहजादी को भला अच्छा कौन कर सकता था ? वह शाहजादी थी न ! सब लोग लगाते थे लेप, और लेप लगाने से होती थी जलन, और तुरंत शाहजादी ने धुलवा डाला उस लेप को। भला शाहजादी को रोकने वाला कौन था ? अब शाहंशाह सलामत को फिक्र हुई। लेकिन शाहजादी अच्छी हो तो कैसे ? वहाँ तो दवा असर करने ही न पाती थी।

"उन्हीं दिनों एक अँगरेज घूमता-घामता दिल्ली आया। दुनिया देखे हुए,

घाट-घाट का पानी पिए हुए, पूरा चालाक और मक्कार । उसको शाहजादी की बीमारी की खबर लग गई । नौकरों को घूस देकर उसने पूरा हाल दरियाफ्त किया । उसे मालूम हो गया कि शाहजादी जलन की वजह से दवा धुलवा डाला करती है । सीधे शाहंशाह सलामत के पास पहुँचा । कहा कि डाक्टर हूँ । शाहजादी का इलाज उसने अपने हाथ में ले लिया । उसने शाहजादी के हाथ में एक दवा लगाई । उस दवा से जलन होना तो दूर रहा, उलटे जले हुए हाथ में ठंढक पहुँची । अब भला शाहजादी उस दवा को क्यों धुलवाती । हाथ अच्छा हो गया । जानते हो वह दवा क्या थी ?" हम लोगों की ओर भेद-भरी दृष्टि डालते हुए हीरोजी ने पूछा ।

"भाई हम दवा क्या जाने ?"—कृष्णानन्द ने कहा ।

"तभी तो कहते हैं कि इतना पढ़-लिखकर भी तुम्हें तमीज नहीं आई । अरे वह दवा थी वेसलीन—वही वेसलीन, जिसका आज घर-घर में प्रचार है ।"

"वेसलीन ! लेकिन वेसलीन तो दवा नहीं होती ।"—मनोहर ने कहा ।

"कौन कहता है कि वेसलीन दवा होती है । अरे उसने हाथ में लगा दी वेसलीन और घाव आप-ही-आप अच्छा हो गया । वह अँगरेज बन बैठा डाक्टर—और उसका नाम हो गया । शाहंशाह शाहजहां बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने उस फिरंगी डाक्टर से कहा—'माँगो ।' उस फिरंगी ने कहा—'हुजूर, मैं इस दवा का हिन्दुस्तान में प्रचार करना चाहता हूँ, इसलिए हुजूर मुझे हिन्दुस्तान में तिजारत करने की इजाजत दे दें ।' बादशाह सलामत ने जब यह सुना कि डाक्टर हिन्दुस्तान में इस दवा का प्रचार करना चाहता है तो बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा—'मंजूर ! और कुछ माँगो ।' तब उस चालाक डाक्टर ने जानते हो क्या माँगा ? उसने कहा—'हुजूर, मैं एक तम्बू तानना चाहता हूँ, जिसके नीचे इस दवा के पीपे इकट्ठे किए जावेंगे । जहाँपनाह यह फरमा दें कि उस तम्बू के नीचे जितनी जमीन आवेगी, वह जहाँपनाह ने फिरंगियों को बख्श दी ।' शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, उन्होंने सोचा, तम्बू के नीचे भला कितनी जगह आवेगी । उन्होंने कह दिया—"मंजूर ।"

"हाँ, तो शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, छल-कपट उन्हें आता न था। और वह अंगरेज था दुनिया देखे हुए। सात समुद्र पार करके हिन्दुस्तान आया था! पहुँचा विलायत, वहाँ उसने बनवाया रबड़ का एक बहुत बड़ा तम्बू और जहाज पर तम्बू लदवाकर चल दिया हिन्दुस्तान। कलकत्ते में उसने वह तम्बू लगवा दिया। वह तम्बू कितना ऊंचा था, इसका अन्दाज आप नहीं लगा सकते। उस तम्बू का रंग नीला था। तो जनाब वह तम्बू लगा कलकत्ते में, और विलायत से पीपे पर पीपे लद-लदकर आने लगे। उन पीपों में वेसलीन की जगह भरा था एक-एक अंगरेज जवान, मय बन्दूक और तलवार के। सब पीपे तम्बू के नीचे रखवा दिए गए। जैसे-जैसे पीपे जमीन घेरने लगे वैसे-वैसे तम्बू को बढ़ा-बढ़ा कर जमीन घेर दी गई। तम्बू तो रबड़ का था न, जितना बढ़ाया बढ़ गया। अब जनाब तम्बू पहुँचा पलासी। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि पलासी का युद्ध हुआ था। अरे सब झूठ है! असल में तम्बू बढ़ते-बढ़ते पलासी पहुँचा था, और उस वक्त मुगल बादशाह का हरकारा दौड़ा था दिल्ली। बस यह कह दिया गया कि पलासी की लड़ाई हुई। जी हाँ, उस वक्त दिल्ली में शाहंशाह शाहजहाँ की तीसरी या चौथी पीढ़ी सल्तनत कर रही थी। हरकारा जब दिल्ली पहुँचा, उस वक्त बादशाह सलामत की सवारी निकल रही थी। हरकारा घबराया हुआ था। वह इन फिरंगियों की चालों से हैरान था। उसने मौका देखा न महल, वहीं सड़क पर खड़े होकर उसने चिल्लाकर कहा—'जहाँपनाह गजब हो गया। ये बदतमीज फिरंगी अपना तम्बू पलासी तक खींच लाए हैं, और चूंकि कलकत्ते से पलासी तक की जमीन तम्बू के नीचे आ गई है, इसलिए इन फिरंगियों ने उस जमीन पर कब्जा कर लिया है। जो इनको मना किया तो इन बदतमीजों ने शाही फरमान दिखा दिया।' बादशाह सलामत की सवारी रुक गई थी। उन्हें बुरा लगा। उन्होंने हरकारे से कहा—'म्याँ हरकारे, मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक फिरंगियों का तम्बू घिर जाय वहाँ तक जगह उनकी हो गई, हमारे बुजुर्ग यह कह गए हैं।' बेचारा हरकारा अपना-सा मुंह लेकर वापस गया।

"हरकारा लौटा, और इन फिरंगियों का तम्बू बढ़ा। अभी तक तो आते थे पीपों में आदमी, अब आने लगा तरह-तरह का सामान। हिन्दुस्तान का व्यापार फिरंगियों ने अपने हाथ में ले लिया। तम्बू बढ़ता ही रहा और पहुँच गया बक्सर। इधर तम्बू बढ़ा और उधर लोगों की घबराहट बढ़ी। यह जो किताबों में लिखा है कि बक्सर की लड़ाई हुई, यह गलत है। भाई, जब तम्बू बक्सर पहुँचा तो फिर हरकारा दौड़ा।

"अब जरा बादशाह सलामत की बात सुनिए। वह जनाब दीवान-खास में तशरीफ रख रहे थे। उनके सामने सैकड़ों, बल्कि हजारों मुसाहब बैठे थे। बादशाह सलामत हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे—सामने एक साहब जो शायद शायर थे, कुछ गा-गाकर पढ़ रहे थे और कुछ मुसाहब गला फाड़-फाड़कर 'वाह, वाह, 'चिल्ला रहे थे। कुछ लोग तीतर और बटेर लड़ा रहे थे। हरकारा जो पहुँचा तो यह सब बन्द हो गया। बादशाह सलामत ने पूछा—'म्याँ हरकारे, क्या हुआ—इतने घबराए हुए क्यों हो?" हाँफते हुए हरकारे ने कहा—'जहाँपनाह, इन बदजात फिरंगियों ने अंधेर मचा रक्खा है। वह अपना तम्बू बक्सर खींच लाए।' बादशाह सलामत को बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने अपने मुसाहबों से पूछा—'मियाँ, यह हरकारा कहता है कि फिरंगी अपना तम्बू कलकत्ते से बक्सर तक खींच लाए। यह कैसे मुमकिन है?" इस पर एक मुसाहब ने कहा—'जहाँपनाह, ये फिरंगी जादू जानते हैं, जादू!' दूसरे ने कहा—'जहाँ-पनाह, इन फिरंगियों ने जिन्नात पाल रखे हैं—जिन्नात सब कुछ कर सकते हैं।' बादशाह सलामत की समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने हरकारे से कहा—'म्या हरकारे, तुम बतलाओ यह तम्बू किस तरह बढ़ आया?' हरकारे ने समझाया कि तम्बू रबड़ का है। इस पर बादशाह सलामत बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा—'ये फिरंगी भी बड़े चालाक हैं; पूरे अकल के पुतले हैं।' इस पर सब मुसाहबों ने एक स्वर में कहा—'इसमें क्या शक है, जहाँपनाह बजा फर-माते हैं। बादशाह सलामत मुस्कराए—'अरे भाई किसी चोबदार को भेजो,

जो इन फिरंगियों के सरदार को लावे । मैं उसे खिलअत दूंगा ।' सब मुसाहब चिल्ला उठे—वल्लाह ! जहाँपनाह एक ही दरियादिल हैं—इस फिरंगी सरदार को जरूर खिलअत देनी चाहिए ।' हरकारा घबराया । वह आया था शिकायत करने, वहाँ बादशाह सलामत फिरंगी-सरदार को खिलअत देने पर आमादा थे। वह चिल्ला उठा—' जहाँपनाह ! इन फिरंगियों ने जहाँपनाह की सल्तनत का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने तम्बू के नीचे करके उस पर कब्जा कर लिया है । जहाँपनाह, ये फिरंगी जहाँपनाह की सल्तनत छीनने पर आमादा दिखाई देते हैं । मुसाहब चिल्ला उठे—'ऐं, ऐसा गजब ।' बादशाह सलामत की मुस्कराहट गायब हो गई । थोड़ी देर तक सोचकर उन्होंने कहा—'मैं क्या कर सकता हूं ? हमारे बुजुर्ग इन फिरंगियों को उतनी जगह दे गए हैं, जितनी तम्बू के नीचे आ सके । भला मैं उसमें कर ही क्या सकता हूं ? हाँ फिरंगी सरदार को खिलअत न दूंगा ।' इतना कहकर बादशाह सलामत फिरंगियों की चालाकी अपनी बेगमात से बतलाने के लिए हरम के अन्दर चले गए । हरकारा बेचारा चुपचाप लौट आया ।

"जनाब, उस तम्बू ने बढ़ना जारी रक्खा । एक दिन क्या देखते हैं कि विश्वनाथपुरी काशी के ऊपर वह तम्बू तन गया । अब तो लोगों में भगदड़ मच गई । उन दिनों राजा चेतसिंह बनारस की देख-भाल करते थे । उन्होंने उसी वक्त बादशाह सलामत के पास हरकारा दौड़ाया । वह दीवान-खास में हाजिर किया गया । हरकारे ने बादशाह सलामत से अर्ज की कि वह तम्बू बनारस पहुँच गया है और तेजी के साथ दिल्ली की तरफ आ रहा है । बादशाह सलामत चौंक उठे । उन्होंने हरकारे से कहा—'तो म्याँ हरकारे, तुम्हीं बतलाओ, क्या किया जाय ?" वहाँ बैठे हुए दो-एक उमराओं ने कहा—'जहाँपनाह, एक बहुत बड़ी फौज भेजकर इन फिरंगियों का तम्बू छोटा करवा दिया जाय और कलकत्ते भेज दिया जाय । हम लोग जाकर लड़ने को तैयार हैं । जहाँपनाह का हुक्म भर हो जाय । इस तम्बू की क्या हकीकत है, एक मर्तबा आसमान को

भी छोटा कर दें ।' बादशाह सलामत ने कुछ सोचा, फिर उन्होंने कहा—'क्या बतलाऊँ, हमारे बुजुर्ग बादशाह शाहजहाँ इन फिरंगियों को तम्बू के नीचे जितनी जगह आ जाय, वह बख्श गए हैं। बख्शीशनामा की रू से हम लोग कुछ नहीं कर सकते । आप जानते हैं, हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं। एक दफा जो जबान दे दी, वह दे दीं । तम्बू का छोटा कराना तो गैरमुमकिन है । हाँ कोई ऐसी हिकमत निकाली जाय, जिससे ये फिरंगी अपना तम्बू आगे न बढ़ा सकें । इसके लिए दरबार-आम किया जाय और यह मसला वहाँ पेश हो ।'

"इधर दिल्ली में तो यह बातचीत हो रही थी और इधर इन फिरंगियों का तम्बू इलाहाबाद, इटावा ढँकता हुआ आगरे पहुँचा । दूसरा हरकारा दौड़ा। उसने कहा—'जहाँपनाह, वह तम्बू आगरे तक बढ़ आया है अगर अब भी कुछ नहीं किया जाता तो ये फिरंगी दिल्ली पर भी अपना तम्बू तान कर अपना कब्जा कर लेंगे ।' बादशाह सलामत घबराए । दरबार-आम किया गया । सब अमीर-उमराव इकट्ठा हुए । जब सब लोग इकट्ठा हो गये तो बादशाह सलामत ने कहा—'आज हमारे सामने एक अहम मसला पेश है । आप लोग जानते हैं कि हमारे बुजुर्ग शाहंशाह शाहजहाँ ने फिरंगियों को इतनी जमीन बख्श दी थी, जितनी उनके तम्बू के नीचे आ सके । इन्होंने अपना तम्बू कलकत्ते में लगाया था । लेकिन वह तम्बू है रबड़ का, और धीरे-धीरे ये लोग तम्बू आगरे तक खींच लाये । हमारे बुजुर्गों से यह कहा गया, तब उन्होंने कुछ करना मुनासिब न समझा; क्योंकि शाहंशाह शाहजहाँ अपना कौल हार चुके हैं । हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं और अपने कौल के पक्के हैं । अब आप लोग बतलाइए, क्या किया जाय ।' अमीरों और मंसबदारों ने कहा—'हमें इन फिरंगियों से लड़ना चाहिए और इनको सजा देनी चाहिए । इनका तम्बू छोटा करवाकर कलकत्ते भिजवा देना चाहिए ।' बादशाह सलामत ने कहा—'लेकिन हम अमीर तैमूर की औलाद हैं । हमारा कौल टूटता है ।'

इसी समय तीसरा हरकारा हाफता हुआ बिना इत्तला कराए हुए ही दरबार में घुस आया। उसने कहा—'जहाँपनाह, वह तम्बू दिल्ली पहुँच गया। वह देखिए किले तक आ पहुँचा।' सब लोगों ने देखा। वास्तव में हजारों गोरे खाकी वर्दी पहने और हथियारों से लैस, बाजा बजाते हुये तम्बू को किले की तरफ खींचते हुए आ रहे थे। उस वक्त बादशाह सलामत उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—'हमने तै कर लिया। हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारे बुजुर्गों ने जो कुछ कह दिया, वही होगा। उन्होंने तम्बू के नीचे की जगह फिरंगियों को बख्श दी थी। अब अगर दिल्ली भी उस तम्बू के नीचे आ रही है तो आवे। मुगल-सल्तनत जाती है तो जाय, लेकिन दुनिया यह देख ले कि अमीर तैमूर की औलाद हमेशा अपने कौल की पक्की रही है।' इतना कहकर बादशाह सलामत मय अपने अमीर-उमरावों के दिल्ली के बाहर हो गए और दिल्ली पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। अब आप लोग देख सकते हैं, इस कलयुग में भी मुगलों ने अपनी सल्तनत बक्स दी।"

हम सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे। इसके बाद मैंने कहा—"हीरोजी एक प्याला चाय और पियो।"

हीरोजी बोल उठे—"इतनी अच्छी कहानी सुनने के बाद भी एक प्याला चाय? अरे महुवे के ठर्रे का एक अद्धा तो हो जाता।"

———

१२—तत्सत

[जैनेन्द्रकुमार]

एक गहन वन में दो शिकारी पहुँचे। वे पुराने शिकारी थे। शिकार की टोह में दूर-दूर घूम रहे थे, लेकिन ऐसा घना जंगल उन्हें नहीं मिला था। देखते जी में दहशत होती थी। वहाँ एक बड़े पेड़ की छाँह में उन्होंने वास किया और आपस में बातें करने लगे।

एक ने कहा, "आह, कैसा भयानक जंगल है।"

दूसरे ने कहा, "और कितना घना!"

इसी तरह कुछ देर बात करके और विश्राम करके वे शिकारी आगे बढ़ गये।

उनके चले जाने पर पास के शीशम के पेड़ ने बड़ से कहा, "बड़ दादा अभी तुम्हारी छाँह में ये कौन थे? वे गये?"

बड़ ने कहा, "हाँ गये। तुम उन्हें नहीं जानते हो?"

शीशम ने कहा, "नहीं, वे बड़े अजब मालूम होते थे। कौन थे, दादा?"

दादा ने कहा, "जब छोटा था, तब इन्हें देखा था। इन्हें आदमी कहते हैं। इनमें पत्ते नहीं होते, तना ही तना होता है। देखा, वे चलते कैसे हैं? अपने तने की दो शाखों पर ही चलते चले जाते हैं।"

शीशम—"ये लोग इतने ही ओछे रहते हैं ऊँचे नहीं उठते, क्यों दादा?"

बड़ दादा ने कहा, "हमारी तुम्हारी तरह इनमें जड़ें नहीं होतीं। बढ़ें तो काहे पर? इससे वे इधर-उधर चलते रहते हैं, ऊपर की ओर बढ़ना उन्हें नहीं आता। बिना जड़ न जाने वे जीते किस तरह हैं!"

इतने में बबूल, जिसमें हवा साफ छनकर निकल जाती थी, रुकती नहीं थी और जिसके तन पर काँटे थे, बोला, "दादा, ओ दादा, तुमने बहुत दिन देखे

हैं। यह बताओ कि किसी वन को भी देखा है। ये आदमी किसी भयानक वन की बात कर रहे थे। तुमने उस भयावने वन को देखा है ?"

शीशम ने कहा, "दादा, हाँ, सुना तो मैंने भी था। वह वन क्या होता है ?"

बड़ दादा ने कहा, "सच पूछो तो भाई, इतनी उमर हुई, उस भयावने वन को तो मैंने भी नहीं देखा। सभी जानवर मैंने देखे हैं। शेर, चीता, भालू, हाथी, भेड़िया। पर वन नाम के जानवर को मैंने अब तक नहीं देखा।"

एक ने कहा, "मालूम होता है वह शेरों चीतों से भी डरावना होता है।"

दादा ने कहा, "डरावना जाने तुम किसे कहते हो। हमारी तो सबसे प्रीति है।"

बबूल ने कहा, "दादा, प्रीति की बात नहीं है। मैं तो अपने पास काँटे रखता हूँ। पर वे आदमी वन को भयावना बताते थे। जरूर वह शेर चीतों से बढ़कर होगा।"

दादा, "सो तो होता ही होगा। आदमी एक टूटी-सी टहनी से आग की लपट छोड़कर शेर-चीतों को मार देता है। उन्हें ऐसे मरते अपने सामने हमने देखा है। पर वन की लाश हमने नहीं देखी। वह जरूर कोई बड़ा खौफनाक होगा।"

इसी तरह उनमें बातें होने लगीं। वन को उनमें से कोई नहीं जानता था। आस-पात के और पेड़ साल, सेंमर, सिरस उस बात-चीत में हिस्सा लेने लगे। वन को कोई मानना नहीं चाहता था। किसी को उसका कुछ पता नहीं था। पर अज्ञात भाव से उसका डर सबको था। इतने में पास ही जो बाँस खड़ा था और जो जरा हवा पर खड़-खड़ सन्-सन् करने लगता था, उसने अपनी जगह से सीटी-सी आवाज देकर कहा, "मुझे बताओ, मुझे बताओ, क्या बात है। मैं पोला हूँ। मैं बहुत जानता हूँ।"

बड़ दादा ने गम्भीर वाणी से कहा, "तुम तीखा बोलते हो। बात है कि बताओ तुमने वन देखा है ? हम लोग सब उसको जानना चाहते हैं ?"

बाँस ने रीती आवाज से कहा, "मालूम होता है हवा मेरे भीतर के रिक्त में वन-वन-वन-वन ही कहती हुई घूमती रहती है। पर ठहरती नहीं। हर घड़ी सुनता हूँ, वन है। वन है। पर मैं उसे जानता नहीं हूँ। क्या वह किसी को दीखा है?"

बड़ दादा ने कहा, "बिना जाने फिर तुम इतना तेज क्यों बोलते हो?"

बाँस ने सन्-सन् की ध्वनि में कहा, "मेरे अन्दर हवा इधर से उधर बहती रहती है; मैं खोखला जो हूँ। मैं बोलता नहीं, बजता हूँ। वही मुझमें से बोलती है?"

बड़ ने कहा, "वंश बाबू, तुम घने नहीं हो, सीधे ही सीधे हो। कुछ भरे होते तो झुकना जानते। लम्बाई में सब कुछ नहीं है।"

वंश बाबू ने तीव्रता से खड़-खड़ सन्-सन् किया कि ऐसा अपमान वह नहीं सहेंगे। देखो, वह कितने ऊँचे हैं।

बड़ दादा ने उधर से आँख हटाकर फिर और लोगों से कहा कि हम सबको घास से इस विषय में पूछना चाहिए। उसकी पहुँच सब कहीं है। वह कितनी व्याप्त है। और ऐसी बिछी रहती है कि किसी को उससे शिकायत नहीं होती।

तब सबने घास से पूछा, "घास री घास, तू वन को जानती है?"

घास ने कहा, "नहीं तो दादा, मैं उन्हें नहीं जानती। लोगों की जड़ों को ही मैं जानती हूँ। उनके फल मुझसे ऊँचे रहते हैं। पदतल के स्पर्श से सबका परिचय मुझे मिलता है। जब मेरे सिर पर चोट ज्यादा पड़ती है, समझती हूँ यह ताकत का प्रमाण है। धीमे कदम से मालूम होता है, यह कोई दुखियारा जा रहा है।"

"दुःख से मेरी बहुत बनती है, दादा; मैं उसी को चाहती हुई यहाँ से वहाँ तक बिछी रहती हूँ। सभी कुछ मेरे ऊपर से निकलता है। पर वन को मैंने अलग करके कभी नहीं पहचाना।"

दादा ने कहा, "तुम कुछ नहीं बतला सकती?"

घास ने कहा, "मैं बेचारी क्या बतला सकती हूँ, दादा!"

तब बड़ी कठिनाई हुई। बुद्धिमती घास ने जवाब दे दिया। वाग्मी वंश बाबू भी कुछ न बता सके। और बड़ दादा स्वयं अत्यन्त जिज्ञासु थे। किसी की समझ में नहीं आया कि वन नाम के भयानक जन्तु को कहाँ से कैसे जाना जाय।

इतने में पशुराज सिंह वहाँ आये। पैने दाँत थे, बालों से गर्दन शोभित थी, पूँछ उठी थी : धीमी गर्वीली गति से वह वहाँ आये और किलक-किलक कर बहते जाते हुये निकट एक चश्मे में से पानी पीने लगे।

बड़ दादा ने पुकार कर कहा, "ओ सिंह भाई, तुम बड़े पराक्रमी हो। जाने कहाँ-कहाँ छापा मारते हो। एक बात तो बताओ, भाई ?"

शेर ने पानी पीकर गर्व से ऊपर को देखा। दहाड़ कर कहा, "कहो, क्या कहते हो ?"

बड़ दादा ने कहा, "हमने सुना है कि कोई वन होता है, जो यहाँ आस-पास है और बड़ा भयानक है। हम तो समझते थे कि तुम सबको जीत चुके हो। उस वन से कभी तुम्हारा मुकाबला हुआ है ?" बताओ वह कैसा होता है ?"

शेर ने दहाड़ कर कहा, "लाओ सामने वह वन, जो अभी मैं उसे फाड़-चीर कर न रख दूं। मेरे सामने वह भला क्या हो सकता है।"

बड़ दादा ने कहा, "तो वन से कभी तुम्हारा सामना नहीं हुआ ?"

शेर ने कहा, "सामना होता, तो क्या वह जीता बच सकता था। मैं अभी दहाड़ देता हूँ। हो अगर कोई वन, तो आये वह सामने। खुली चुनौती है। या वह है या मैं हूँ।"

ऐसा कह कर उस वीर सिंह ने वह तुमुल घोर गर्जन किया कि दिशाएँ काँपने लगीं। बड़ दादा के देह के पत्र खड़-खड़ करने लगे। उनके शरीर के कोटर में वास करते हुए शावक चीं-चीं कर उठे। चहुँ ओर जैसे आतंक भर गया। पर वह गर्जना गूँजकर रह गई। हुंकार का उत्तर कोई नहीं आया।

सिंह ने उस समय गर्व से कहा, "तुमने यह कैसे जाना कि कोई वन है और वह आस-पास रहता है। जब मैं हूँ, आप सब निर्भय रहिये कि वन कोई

नहीं है, कहीं नहीं है। मैं हूँ, तब किसी और का खटका आपको नहीं रखना चाहिए।"

बड़ दादा ने कहा, "आपकी बात सही है। मुझे यहाँ सदियाँ हो गई हैं। वन होता तो दीखता अवश्य। फिर आप हो, तब कोई और क्या होगा। पर वे दो शाखा पर चलने वाले जीव जो आदमी होते हैं, वे ही यहाँ मेरी छाँह में बैठकर उस वन की बात कर रहे थे। ऐसा मालूम होता है कि ये बे-जड़ के आदमी हमसे ज्यादा जानते हैं।"

सिंह ने कहा, "आदमी को मैं खूब जानता हूँ। मैं उसे खाना पसन्द करता हूँ। उसका माँस मुलायम होता है; लेकिन वह चालाक जीव है। उसको मुंह मारकर खा डालो, तब तो वह अच्छा है, नहीं तो उसका भरोसा नहीं करना चाहिए। उसकी बात-बात में धोखा है।"

बड़ दादा तो चुप रहे, लेकिन औरों ने कहा कि सिंहराज, तुम्हारे भय से बहुत से जन्तु छिपकर रहते हैं। वे मुंह नहीं दिखाते। वन भी शायद छिपकर रहता हो। तुम्हारा दबदबा कोई कम तो नहीं है। इससे जो साँप धरती में मुंह गाड़ कर रहते हैं, ऐसी भेद की बातें उससे पूछनी चाहिए। रहस्य कोई जानता होता, तो अँधेरे में मुंह गाड़कर रहनेवाला साँप जैसा जानवर ही जानता होगा। हम पेड़ तो उजाले में सिर उठाये खड़े रहते हैं। इसलिए हम बेचारे क्या जानें।

शेर ने कहा कि जो मैं कहता हूँ, वही सच है। उसमें शक करने की हिम्मत ठीक नहीं है। जब तक मैं हूँ, कोई डर न करो। कैसा सांप और कैसा कुछ और। क्या कोई मुझसे ज्यादा जानता है?

बड़ दादा यह सुनते हुए अपनी दाढ़ी की जटाएँ नीचे लटकाये बैठे रह गये, कुछ नहीं बोले। औरों ने भी कुछ नहीं कहा। बबूल के काँटे जरूर उस वक्त,

तनकर कुछ उठ आये थे। लेकिन फिर भी बबूल ने धीरज नहीं छोड़ा और मुँह नहीं खोला।

अन्त में जम्हाई लेकर मंथर गति से सिंह वहाँ से चले गये।

भाग्य की वात कि साँझ का झुटपुटा होते-होते चुप-चाप घास में से जाते हुए दीख गये चमकीली देह के नागराज। बबूल की निगाह तीखी थी। झट से बोला, "दादा! ओ बड़ दादा; वह जा रहे हैं सर्पराज। ज्ञानी जीव हैं। मेरा तो मुँह उनके सामने कैसे खुल सकता है। आप पूछो तो जरा कि वन का ठौर-ठिकाना क्या उन्होंने देखा है?"

वड़ दादा शाम से ही मौन हो रहते हैं। वह उनकी पुरानी आदत है। बोले, "संध्या आ रही है। इस समय वाचालता नहीं चाहिएं।"

बबूल झक्की ठहरे। बोले, "वड़ दादा, सांप धरती से इतना चिपटकर रहते हैं कि सौभाग्य से हमारी आँखें उन पर पड़ती हैं और यह, सर्प अतिशय श्याम है, इससे उतने ही ज्ञानी होंगे। वर्ण देखिए न, कैसा चमकता है। अवसर खोना नहीं चाहिए। इनसे कुछ रहस्य पा लेना चाहिए।"

वड़ दादा ने तव गम्भीर वाणी से साँप को रोक कर पूछा कि हे नाग, हमें वताओ कि वन का वास कहाँ है और वह स्वयं क्या है?

साप ने साश्चर्य कहा, "किसका वास? वह कौन जन्तु है? और उसका वास पाताल तक तो कहीं है नहीं।"

वड़ दादा ने कहा कि हम कोई उसके सम्वन्ध में कुछ नहीं जानते। तुमसे जानने की आशा रखते हैं। जहाँ जरा छिद्र हो, वहाँ तुम्हारा प्रवेश है। कोई टेढ़ा-मेढ़ापन तुम से वाहर नहीं है। इससे तुम से पूछा है।

साँप ने कहा, "मैं धरती के सारे गर्त जानता हूँ। भीतर दूर तक पैठ-कर उसी के अन्तर्भेद को पहचानने में लगा रहता हूँ। वहाँ ज्ञान की खान है। ताऊँ। तुम नहीं समझोगे। तुम्हारा वन, लेकिन कोई गहराई

की सचाई नहीं जान पड़ती। वह कोई बनावटी सतह की चीज है। मेरा ऐसा ऊपरी और उथली बातों से वास्ता नहीं रहता।"

वड़ दादा ने कहना चाहा कि तो वन—

सांप ने कहा, "वह फर्जी है।" यह कह कर वह आगे वढ़ गये।

मतलव यह है कि सव जीव-जन्तु और पेड़-पौधे आपस में मिले और पूछ-ताछ करने लगे कि वन को कौन जानता है और वह कहाँ है, क्या है? उनमें सवको ही अपना-अपना ज्ञान था। अज्ञानी कोई नहीं था। पर उस वन का जानकार कोई नहीं था। एक नहीं जाने, तो नहीं जानें, दस-वीस नहीं जानें। लेकिन जिस को कोई भी नहीं जानता, ऐसी भी भला कोई चीज कभी हुई है। या हो सकती है? इसलिए उन जंगली जन्तुओं में और वनस्पतियों में खूव चर्चा हुई, खूव चर्चा हुई। दूर-दूर तक उनकी तू-तू मैं-मैं सुनाई देती थी। ऐसी चर्चा हुई, ऐसी चर्चा हुई कि विद्याओं पर विद्याएँ उसमें से प्रस्तुत हो गईं। अन्त में तय पाया कि दो टाँगों वाला आदमी ईमानदार जीव नहीं है। उसने तभी वन की वात वनाकर कह दी है। वह वन गया है। सच में वह नहीं हैं।

उस निश्चय के समय वड़ दादा ने कहा कि भाइयो, उन आदमियों को फिर आने दो। इस वार साफ-साफ उनसे पूछना है कि वतायें, वन क्या है। वतायें, तो वतायें, नहीं तो खामखाह झूठ वोलना छोड़ दें। लेकिन उनसे पूछने से पहले उस वन से दुश्मनी ठानना हमारे लिए ठीक नहीं है। वह भयावना सुनते हैं। जाने वह और क्या हो?

लेकिन वड़ दादा की वहाँ विशेष चली नहीं। जवानों ने कहा कि ये बूढ़े हैं, उनके मन में तो डर बैठा है और जंगल के न होने का फैसला पास हो गया।

एक रोज आफत के मारे फिर वे शिकारी उस जगह आये। उनका आना

था कि जंगल जाग उठा। बहुत से जीव-जन्तु झाड़ी-पेड़ तरह-तरह की बोली बोल कर अपना विरोध दरसाने लगे। वे मानो उन आदमियों की भर्त्सना कर रहे थे। आदमी विचारों को अपनी जान का संकट मालूम होने लगा। उन्होंने अपनी बन्दूकें सँभालीं। इस टूटी सी टहनी को, जो आग उगलती है, वह बड़ दादा पहचानते थे। उन्होंने बीच में पड़कर कहा, "अरे, तुम लोग अधीर क्यों होते हो। इन आदमियों के खतम हो जाने से हमारा-तुम्हारा फैसला निर्भ्रम कहलायेगा। जरा तो ठहरो। गुस्से से कहीं ज्ञान हासिल होता है? ठहरो, इन आदमियों से उस सवाल पर मैं खुद निपटारा किये लेता हूँ।" यह कहकर बड़ दादा आदमियों, को मुखातिब करके बोले, "भाई आदमियों, तुम भी पोली चीजों का नीचा मुँह करके रखो, जिनमें तुम आग भर कर लाते हो। डरो मत। अब यह बताओ, कि वह जंगल क्या है, जिसकी तुम बात किया करते हो? बताओ, वह कहाँ है?"

आदमियों ने अभय पाकर अपनी बन्दूकें नीची कर लीं और कहा, "यह जंगल ही तो है, जहाँ हम सब हैं।"

उनका इतना कहना था कि चींची-कींकी, सवाल पर सवाल होने लगे।

"जंगल यहाँ कहाँ है? कहीं नहीं हैं।"

"तुम हो। मैं हूँ। यह है। वह है। जंगल फिर हो कहाँ सकता है।"

"तुम झूठे हो।"

"धोखेबाज।"

"स्वार्थी!"

"खतम करो इनको।"

आदमी यह देखकर डर गये। वन्दूकें सँभालना चाहते थे कि बड़ दादा ने मामला संभाला और पूछा, "सुनो आदमियों, तुम झूठे साबित होगे, तभी तुम्हें मारा जायगा। क्या यह आग फेंकनी लिये फिरते हो। तुम्हारी बोटी का पता न मिलेगा। और अगर झूठे नहीं हो, तो बताओ, जंगल कहाँ हैं?"

उन दोनों आदमियों मे से प्रमुख ने विस्मय से और भय से कहा, "हम सब जहाँ हैं, वहीं तो जंगल है।"

बबूल ने अपने काँटे खड़े करके कहा, "बको मत, वह सेमर है, वह सिरस है, वह साल है, वह घास है। वह हमारे सिंहराज हैं। वह पानी है। वह धरती है। तुम जिनकी छाँह में हो, वह हमारे बड़ दादा हैं! तब तुम्हारा जंगल कहाँ है, दिखाते क्यों नहीं? तुम हमको धोखा नहीं दे सकते।"

प्रमुख पुरुष ने कहा, "यह सब-कुछ ही जंगल है।"

इस पर गुस्से में भरे हुए कई वनचरों ने कहा, "बात से बचो नहीं। ठीक बताओ, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं है।"

अब आदमी क्या कहें, परिस्थित देखकर वे बेचारे जान से निराश होने लगे। अपनी मानवी बोली में (अब तक प्राकृतिक बोली में बोल रहे थे) एक ने कहा, "यार, कह क्यों नहीं देते कि जंगल नहीं है। देखते नहीं, किन से पाला पड़ा है!"

दूसरे ने कहा, "मुझ से तो कहा नहीं जायगा।"

"तो क्या मरोगे?"

"सदा कौन जिया है। इससे इन भोले प्राणियों को भुलावे में कैसे रखूँ।"

यह कहकर प्रमुख पुरुष ने सबसे कहा, "भाइयो, जंगल कहीं दूर या बाहर नहीं है। आप लोग सभी वह हो।"

इस पर फिर गोलियों-से सवालों की बौछार उन पर पड़ने लगी।

"क्या कहा? मैं जंगल हूँ? तब बबूल कौन है?"

"झूठ! क्या मैं यह मानूँ कि मैं बाँस नहीं, जंगल हूँ। मेरा रोम-रोम कहता है, मैं बाँस हूँ।"

"और मैं घास।"

"और मैं शेर।"

"और मैं साँप।"

इस भाँति ऐसा शोर मचा कि उन बेचारे आदमियों की अकल गुम होने को आ गई। वड़ दादा न हों, तो आदमियों का काम वहाँ तमाम था।

उस समय आदमी और बड़ दादा में कुछ ऐसी धीमी-धीमी बातचीत हुई कि वह कोई सुन नहीं सका। बातचीत के बाद वह पुरुष उस विशाल बड़ के वृक्ष के ऊपर चढ़ता दिखाई दिया। चढ़ते-चढ़ते वह उसकी सबसे ऊपर की फुनगी तक पहुँच गया। वहाँ दो नये-नये पत्तों की जोड़ी खुले आसमान की तरफ मुस्कराती हुई देख रही थी। आदमी ने उन दोनों को बडे प्रेम से पुच-कारा। पुचकारते समय ऐसा मालूम हुआ, जैसा मन्त्र-रूप में उन्हें कुछ सन्देश भी दिया।

वन के प्राणी यह सब-कुछ स्तब्ध भाव से हुए देख रहे थे। उन्हें कुछ समझ में न आ रहा था।

देखते-देखते पत्तों की वह जोड़ी उदग्रीव हुई। मानो उनमें चैतन्य भर-आया। उन्होंने अपने आस-पास और नीचे देखा। जाने उन्हें क्या दिखा कि वे काँपने लगे। उनके तन में लालिमा व्याप गई। कुछ क्षण बाद मानो वे एक चमक से चमक आये। जैसे उन्होंने खण्ड को कुल में देख लिया। देख लिया कि कुल है, खण्ड कहाँ है।

वह आदमी अब नीचे उतर आया था और अन्य वनचरों के समकक्ष खड़ा था। वड़ दादा ऐसे स्थिर-शान्त थे, मानो योगमग्न हों कि सहसा उनकी समाधि टूटी। वे जागे। मानो उन्हें अपने चरमशीर्ष से, अभ्यन्तरा-दभ्यन्तर में से, तभी कोई अनुभूति प्राप्त हुई हो।

उस समय सब ओर सप्रश्न मौन व्याप्त था। उसे भंग करते हुए वड़ दादा ने कहा—

"वह है।"

कहकर वह चुप हो गये। साथियों ने दादा को सम्बोधित करते हुए कहा, "दादा, दादा!"......

दादा ने इतना ही कहा—

"वह है, वह है।"

"कहाँ है कहाँ है?"

"सब कहीं है। सब कहीं है।"

"और हम?"

"हम नहीं, वह है।"

१३—रोज

[अज्ञेय]

दोपहर में उस घर के सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी वोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था......

मेरी आहट सुनते ही मालती वाहर निकली। मुझे देखकर, पहचान कर उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय से जगी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई। उसने कहा—"आ जाओ।" और विना उत्तर की प्रतीक्षा किए भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा—"वे यहाँ नहीं हैं?"

"अभी आये नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो वजे आया करते हैं।

"कव के गये हुए हैं?"

"सवेरे उठते ही चले जाते हैं।"

मैं 'हूँ' कहकर पूछने को हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो?' पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लाई, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा—"नहीं, मुझे नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, वोली—"वाह! चाहिये कैसे नहीं! इतनी धूप में तो आये हो। यहाँ तो—"

मैंने कहा—"अच्छा लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'न' करने को थी; पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गई।

मैं उसके जाते हुए दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा—यह क्या है... यह कैसी छाया सी इस घर पर छाई हुई है......

मालती मेरी दूर के रिस्ते की बहिन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत कुछ इकट्ठे ही हुई थी। और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा।

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इसके पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी। अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था, किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छाई हुई है...और विशेषतया मालती पर...

मालती बच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुयी दरी पर बैठ गई। मैंने अपनी कुर्सी घुमा कर कुछ उसकी ओर उन्मुख हो कर पूछा—इसका नाम क्या है?

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया—नाम तो कोई निश्चित नही किया, वैसे टिटी कहते हैं।

मैंने उसे बुलाया—टिटी! टिटी! आजा!—पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा सा होकर कहने लगा—उहुँ उहुँ-उहुँ-ऊँ...... ।

मालती ने फिर उसी ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी।

काफी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे; किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, कि मालती ने कोई बात ही नहीं की—यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ, चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वे बीते दिन भूल गई? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती···पर फिर भी, ऐसा मौन जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिये···

मैंने कुछ खिन्न सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा—जान पड़ता है; तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई!

उसने एकाएक चौंक कर कहा—हूँ।

यह 'हूँ' प्रश्नसूचक था; किन्तु इसलिये नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इसलिये मैंने अपनी बात दुहराई नहीं, चुप बैठा रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी; किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा—उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था; मानों मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहारतन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो···वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाये हुये अङ्ग कोई व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिर-विस्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता···मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी

मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये...।

तभी किसी ने द्वार खटखटाए। मैंने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गए, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गई।

वे, यानी मालती के पति आये। मैंने उन्हें पहली ही बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गई, और हम दोनों भीतर बैठकर बातचीत करने लगे—उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, आबोहवा के बारे में और ऐसे अन्य विषयों के बारे में जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर......

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वे एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर हैं। उसी हैसियत के इन क्वार्टर्स में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं। उसके बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस्पेंसरी के साथ के छोटे-से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने...उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है। नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ...वे स्वयं उकताये हुये हैं, और इसलिये और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वे अपने फ़ुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं।

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आई। मैंने पूछा—"तुम नहीं खाओगी? या खा चुकीं?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर—"वह पीछे खाया करती हैं...।"

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले—"आपको तो खाने का मजा ही क्या आयेगा, ऐसे बेवक्त खा रहे हैं ?"

मैंने उत्तर दिया—"वाह ! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता से—भूख बढ़ी हुई होती है । पर शायद मालती बहन को कष्ट होगा ।"

मालती टोककर बोली—"उहुँ, मेरे लिए तो यह नई बात नहीं है । रोज ही ऐसा होता है..."

मालती बच्चे को गोद में लिए हुए थी । बच्चा रो रहा था; पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था ।

मैंने कहा—"यह रोता क्यों है ?"

मालती बोली—"हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है ।" फिर बच्चे को डाँटकर कहा—"चुप कर !" जिससे वह और भी रोने लगा । मालती ने भूमि पर बिठा दिया और बोली—"अच्छा ले, रो ले !" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गई ।

जब हमने भोजन समाप्त किया, तब तीन बजने वाले थे । महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आये हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा—दो की शायद टाँगें काटनी पड़ें, गंग्रेन (Gangrene) हो गया है । थोड़ी ही देर में वे चले गये । मालती किवाड़ बन्द कर आई और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा—"अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ ।"

वह बोली—"खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है ।" किन्तु चली गई । मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिये शांत हो गया । ...

दूर—शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के । एकाएक मैं चौंका । मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी, अपने-आप ही, एक लम्बी-सी, थकी हुई सांस के

साथ कह रही है—"तीन बज गये..." मानों बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य संपन्न हो गया हो...

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गई। मैंने पूछा—"तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो..."

"बहुत था—"

"हाँ, बहुत था ! भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रोब तो न जमाओ कि बहुत था !" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानों किसी और विषय की बात कहती हुई, बोली—"यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं। मुझे आए पंद्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाए थे, वही अभी वर्ती जा रही है..."

मैंने पूछा—"नौकर कोई नहीं है ?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।"

"वर्तन भी तुम्हीं माँजती हो ?"

"और कौन ?" कहकर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आई।

मैंने पूछा—"कहाँ गई थीं ?"

"आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मंजेंगे।"

"क्यों, पानी को क्या हुआ !"

"रोज ही होता है—कभी वक्त पर तो आता नहीं। आज शाम को सात बजे आएगा, तब बर्तन मँजेंगे।"

"चलो, तुम्हें सात बजे तक छुट्टी तो हुई"—कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई !"

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटी

ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा। मैंने जेब से अपनी नोट बुक निकाली, और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा। तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, यहाँ आए कैसे ?"

मैंने कहा ही तो—"अच्छा, अब याद आया ? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने।"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गई। मैं फिर नोट बुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने, किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ ! पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानों मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस, निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती......

मैंने पूछा—"तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ !" कहकर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी—यहाँ पढ़ने को है क्या ?

मैंने कहा—"अच्छा, मैं वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा......" और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया।

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा—"आये कैसे हो, लारी में ?"

"पैदल।"

"इतनी दूर ?" बड़ी हिम्मत की !"

"आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा—बिस्तरा ले ही चलूं।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस......" कहकर मालती चुप रह गई। फिर बोली—"तब तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नहीं, बिल्कुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं हैं। भला थके हैं?"

"और तुम क्या करोगी?"

"मैं बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आएगा तो धुल जायँगे!"

मैंने कहा—"वाह!" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं......

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गई, टिटी को साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा, और सोचने लगा.....मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बर्तनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एकस्वरता उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा......

एकाएक वह एकस्वरता टूट गई—मौन हो गया। इससे मेरी तंद्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा—

चार खड़क रहे थे, और इसी का पहला घंटा सुनकर मालती रुक गई थी......

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखी, अब की बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यंत्रवत्—वह भी थके हुए यंत्र की भाँति—स्वर में कह रही है—"चार बजे गए......" मानों इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उसका मशीनतुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यंत्रवत् फासला नापता जाता है, और

यंत्रवत् विश्रांत स्वर में कहता है (किसने !) कि मैंने अपने अमित शून्य पथ का इतना अंश तय कर लिया......

न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गई......

० ० ० ०

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही विस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने ही को था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा—"आपने बड़ी देर की ?"

उन्होंने किंचित ग्लानि-भरे स्वर में कहा—"हाँ, आज वह Gangrene का आपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा "Gangrene" कैसे हो गया ?"

"एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के......।"

"मैंने पूछा—"यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं ? आपके लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिए ?"

बोले—"हाँ, मिल ही जाते हैं। यही Gangrene हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है। नीचे बड़े अस्पतालों में भी......"

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गई, बोली—"हाँ, केस बनते देर क्या लगती है ? काँटा चुभा था, उस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास !"

महेश्वर हँसे। बोले—"न काटें तो उसकी जान गँवाएँ ?"

"हाँ ! पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे ? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हों।"

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिए। मालती मेरी ओर देखकर बोली—"ऐसे ही होते हैं डाक्टर ! सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज ही ऐसी बातें सुनती हूँ अब कोई मर-मुर जाय लो तो खयाल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी।"

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा—टिप, टिप टिप, टिप, टटटिप...

मालती ने कहा—"पानी !" और उठकर चली गई। 'खनखन' शब्द से हमने जाना, बर्तन धोए जाने लगे हैं।

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था। अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा—"उधर मत जा !" और उसे गोद में उठा लिया। वह मचलने और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

महेश्वर बोले—"अब रो-धोकर सो जायगा, तभी घर में चैन पड़ेगी।"

मैंने पूछा—"आप लोग भीतर ही सोते हैं ? गर्मी तो बहुत होती है ?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर ये लोहे के पलंग उठाकर बाहर कौन ले जाए ! अब की नीचे जाएँगे, तो चारपाइयाँ ले आएँगे।" फिर कुछ रुककर बोले—"आज तो बाहर ही सोएँगे। आपके आने का इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे। मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ।" और दूसरी ओर से पलंग उठाकर बाहर निकलवा दिये।

अब हम तीनों—महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगों पर बैठ गये और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छिपाने के लिए टिटी

से खेलने लगे। बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था; किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद करके रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था······और तब कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे······

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा—"थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।"

"कहाँ हैं ?"

"अँगीठी पर रखे हैं—कागज में लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाए और अपने आँचल में डाल लिए। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती संध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी···वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया···बहुत दिनों की बात थी—जब हम अभी स्कूल में भरती हुए ही थे। जब हमारा सबसे बड़ा सुख, सबसे बड़ी विजय थी, हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से स्कूल से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूर पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़कर कच्ची अमियाँ तोड़-तोड़ कर खाना। मुझे याद आया—कभी जब मैं भाग आता था और मालती नहीं आ पाती थी, तब मैं खिन्न मन लौट जाया करता था······

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे। एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, और कहा कि इसके बीस पेज रोज पढ़ा करो। हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो। नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली; पर क्या उसने पढ़ी ? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज फाड़कर फेंक देती। जब आठवें

दिन उसके पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली ?" तो उत्तर दिया—"हाँ, कर ली।" पिता ने कहा, "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा।"—तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली—"किताब मैंने फाड़ कर फेंक दी है। मैं नहीं पढ़ूँगी।"

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है......इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शांत, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है...यह क्या है, यह...

तभी महेश्वर ने पूछा—"रोटी कब बनेगी ?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्त्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गई। वह मालती की ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, नहीं माना। मालती उसे भी गोद में लेकर चली गई। रसोई में बैठकर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे हाथ से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठाकर अपने सामने रखने लगी।...

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की, प्रतीक्षा करने लगे।

*　　　*　　　*

हम भोजन कर चुके थे, और बिस्तरों पर लेट गए थे। टिटी सो गया था, मालती उसे अपने पलंग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उस पर लिटा गई थी। वह सो तो गया था; पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा—"आप तो थके होंगे, सो जाइए।"

वे बोले—"थके तो आप अधिक होंगे—अठारह मील पैदल चलकर आए हैं।" किन्तु उनके स्वर ने मानो जोड़ दिया—"थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप हो रहा। थोड़ी ही देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे। मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में (यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं), लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी। फिर मैं इधर-उधर खिसक कर, पलंग पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी। आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा—उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगनेवाली, स्लेट की छत की स्लेटें भी चाँदनी में चमक रही हैं, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही हैं, मानों चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो……

मैंने देखा—पवन में चीड़ के वृक्ष—गर्मी से सूखकर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष—धीरे-धीरे गा रहे हैं—कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं; अशांतिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं,……

मैंने देखा—दिन भर की तपन, अशांति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप की नाईं उठकर वातावरण में खोए जा रहे हैं, और ऊपर से एक कोमल, शीतल, सम्मोहन, आह्लाद-सा बरस रहा है, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़-वृक्ष रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं…

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने…महेश्वर ऊँघ रहे थे, और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर, दही जमाने के लिये मिट्टी का बर्तन गर्म पानी से धो रही थी और कह रही थी "बस, अभी, छुट्टी हुई जाती है।" और मेरे कहने पर कि "ग्यारह बजने वाले हैं", धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं…मालती ने वह सब कुछ नहीं देखा। मालती का जीवन अपनी रोज की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा

की चन्द्रिका के लिये, एक संसार के सौन्दर्य के लिये, रुकने को तैयार नहीं था……

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा। और वह एकाएक मानों किसी शैशवोचित वामता से उठा और खिसक कर पलंग से नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वर ने चौंककर कहा—"क्या हुआ ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आई, मैंने उस 'खट्' शब्द को याद करके, धीरे से करुणाभरे-स्वर में कहा—"चोट बहुत लग गई बिचारे के…!"

यह सब मानों एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुये कहा—"इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण-भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया। फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा—कहा मेरे मन के भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला—"माँ ! युवती माँ यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एक मात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो…और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है !"

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है। मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुये चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं मैंने उस छाया को देख भी लिया।

इतनी देर में, पूर्ववत् शांति हो गई थी। महेश्वर फिर लेटकर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपटकर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने

लगा था कि विस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी; किन्तु क्या चंद्रिका को ? या तारों को···?

तभी ग्यारह का घंटा बजा। मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घंटा-ध्वनि के कंपन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उसने कहा—"ग्यारह बज गए !......"

१४—लालपान की बेगम

[फणीश्वरनाथ रेणु]

क्यों बिरजू की माँ, नाच देखने नहीं जाएगी क्या ?

बिरजू की माँ शकरकंद उबालकर बैठी मन ही मन कुढ़ रही थी अपने आँगन में। सात साल का लड़का बिरजू शकरकंद के बदले तमाचे खाकर आँगन में लोट-लोटकर सारी देह में मिट्टी मल रहा था। चम्पिया के सिर भी चुड़ैल मँडरा रही है......आध-आँगन धूप रहते जो गई है सहुआइन की दुकान छोवा-गुड़ लाने, सो अभी तक नहीं लौटी; दीया-बाती की बेला हो गई। आए आज लौट के जरा ! बागड़ बकरे की देह में कुकुरमाछी लगी थी, इसलिए बेचारा बागड़ रह-रहकर कूद-फाँद कर रहा था। बिरजू की माँ बागड़ पर मन का गुस्सा उतारनें का बहाना ढूँढ़-कर निकाल चुकी थी।......पिछवाड़े की मिर्च की फूली गाछ ! बागड़ के सिवा और किसने कलेवा किया होगा ! बागड़ को मारने के लिए वह मिट्टी का एक छोटा ढेला उठा चुकी थी, कि पड़ोसिन मखनी फुआ की पुकार सुनाई पड़ी—क्यों बिरजू की माँ, नाच देखने नहीं जाएगी क्या ?—बिरजू की माँ के आगे नाथ और पीछे पगहिया न हो तब न, फुआ !

गरम गुस्से में बुझी नुकीली बात फुआ की देह धँस गई और बिरजू की माँ ने हाथ के ढेले को पास ही फेंक दिया...बेचारे बागड़ को कुकुरमाछी परेशान कर रही है ! आ-हा, आय......आय !

बिरजू ने लेटे ही लेटे बागड़ को एक डण्डा लगा दिया। बिरजू की माँ की इच्छा हुई कि जाकर उसी डण्डे से बिरजू का भूत भगा दे, किन्तु नीम के पास खड़ीं पनभरनियों की खिलखिलाहट सुनकर रुक गई। बोली—ठहर, तेरे बप्पा ने बड़ा हथछुट्टा बना दिया है तुझे ! बड़ा हाथ चलता है लोगों पर। ठहर !

मखनी फुआ नीम के पास झुकी कमर से घड़ा उतारकर पानी भर कर लौटती पनभरनियों से बिरजू की माँ की बहकी हुई बात का इन्साफ करा रही थी—जरा देखो तो इस बिरजू की माँ को ! चार मन पाट (जूट) का पैसा क्या हुआ है, धरती पर पांव ही नहीं पड़ते ! निसाफ करो ! खुद अपने मुँह से आठ दिन पहले से गांव की अली-गली में बोलती फिरी है, हाँ, इस बार बिरजू के बप्पा ने कहा है, बैलगाड़ी पर बैठाकर बलरामपुर का नाच दिखा लाऊँगा। बैल अब अपने घर है, तो हजार गाड़ी मँगनी मिल जाएगी। सो मैंने अभी टोक दिया नाच देखने वाली सब तो औन-पौन कर तैयार हो रही हैं, रसोई पानी कर रही हैं। मेरे मुँह में आग लगे, क्यों मैं टोकने गई ! सुनती हो क्या जवाब दिया बिरजू की माँ ने !

मखनी फुआ ने अपने पोपले मुँह के ओंठों को एक ओर मोड़कर ऐंठती हुई बोली निकाली—अर्-र्रे-हाँ-हाँ ! बि र-र-जू की मै···या के आगे नाथ औरृ र्र-पीछे पगहिया ना हो, तब्ब ना-आ-आ !

जंगी की पुतोहू बिरजू की माँ से नहीं डरती। वह जरा गला खोलकर ही कहती है—फुआ-आ ! सरवे सित्तलमिटी (सर्वे सेटलमेंट) के हाकिम के बासा पर फूलछाप किनारी वाली साड़ी पहनके यदि तू भी भन्टा की भेंटी चढ़ाती तो तुम्हारे नाम से भी दु-तीन बीघा धनहर जमीन का पर्चा कट जाता ! फिर तुम्हारे घर भी आज दस मन सोनावंग पाट होता, जोड़ा बैल खरीदती ! फिर आगे नाथ और सैकड़ों पगहिया झूलती !

जंगी की पुतोहू मुँहजोर है। रेलवे स्टेशन के पास की लड़की है। तीन ही महीने हुए गौने की नई बहू होकर आई है और सारे कुर्मा टोली की सभी झगड़ालू सासों से एकाध मोरचा ले चुकी है। उसका ससुर जन्गी दागी चोर है, सी-किलासी है। उसका खसम रंगी कुर्मा टोली का नामी लठैत। इसीलिए हमेशा सींग खुजाती फिरती है जन्गी की पुतोहू !

बिरजू की मां के आंगन में जन्गी की पुतोहू की गला-खोल बोली गुलेल

की गोलियों की तरह दनदनाती हुई आई। बिरजू की मां ने एक तीखा जवाब खोजकर निकाला, लेकिन मन मसोसकर रह गई !......गोबर की ढेरी में कौन ढेला फेंके !

जीभ के झाल को गले में उतारकर बिरजू की मां ने अपनी बेटी चम्पिया को आवाज दी— अरी चम्पिया-या-या, आज लौटे तो तेरी मूड़ी मरोड़कर चूल्हे में झोंकती हूं ! दिन-दिन बेचाल होती जाती है !......गांव में तो अब ठेठर-बैसकोप का गीत गानेवाली पतुरिया पुतोहू सब आने लगी हैं। कहीं बैठके 'बाजे न मुरलिया' सीख रही होगी ह-र-जा-ई-ई ? अरी चम्पि-या-या-या !

जंगी की पुतोहू ने बिरजू की मां की बोली का स्वाद लेकर कमर पर घड़े को संभाला और मटककर बोली—चल दिदिया चल ! इस मुहल्ले में लालपान की बेगम बसती है ! नहीं जानती, दोपहर-दिन और चौपहार-रात बिजली की बत्ती भक्-भक् कर जलती है !

भक्-भक् बिजली-बत्ती की बात सुनकर न जाने क्यों सभी खिल-खिलाकर हंस पड़ीं ! फुआ की टूटी हुई दंत-पंक्तियों के बीच से एक मीठी गाली निकली —शैतान की नानी !

बिरजू की मां की आंखों पर मानो किसी ने तेज टार्च की रोशनी डालकर चौंधिया दिया।...भक्-भक् बिजली-बत्ती ! तीन साल पहले सर्वे कैम्प के बाद गांव की जलन-डाही औरतों ने एक कहानी गढ़ के फैलाई थी, चम्पिया की मां के आंगन में, रात-भर बिजली-बत्ती भुक-भुकाती थी ! चम्पिया की मां आंगन में, नालवाले जूते की छाप घोड़े की टाप की तरह !...जलो, जलो ! और जलो ! चम्पिया की मां के आंगन में चाँदी जैसे पाट सूखते देखकर जलनेवाली सब औरतें खलिहान पर सोनोली धान के बोझों को देखकर बैगन का भुर्ता हो जाएंगी।

मिटटी के बरतन से टपकते हुए छोवा-गुड़ को उंगलियों से चाटती हुई चम्पिया आई और मां के तमाचे खाकर चीख पड़ी—मुझे क्यों मारती है ए-ए-ए ? सहुआइन जल्दी से सौदा नहीं देती हैं-एं-एं-एं-एं !

—सहुग्राइन ज़ल्दी सौदा नहीं देती की, नानी ! एक सहुग्राइन की ही दूकान पर मोती झरते हैं, जो जड़ गाड़कर बैठी हुई थी। बोल, गले पर लात देकर कल्ला तोड़ दूंगी हरजाई, जो फिर कभी 'बाजे न मुरलिया गाते सुना ! चाल सीखने जाती हैं टीशन की छोकरियों से !

बिरजू की मां ने चुप होकर अपनी आवाज अन्दाजी कि उसकी बात जन्गी के झोपड़े तक साफ-साफ पहुँच गई होगी।

बिरजू बीती हुई बातों को भूलकर उठ खड़ा हुआ था और धूल झाड़ते हुए बरतन से टपकते गुड़ को ललचाई निगाह से देखने लगा था।···दीदी के साथ वह भी दूकान जाता तो दीदी उसे गुड़ चटाती, जरूर ! वह शकरकंद के लोभ में रहा और मांगने पर मां ने शकरकंद के बदले···

—ए मैया, एक अंगुली गुड़ दे-दे ! बिरजू ने तलहथी फैलाई —दे ना मैया, एक रत्ती-भर !

—एक रत्ती क्यों, उठाके बरतन को फेंक आती हूँ पिछवाड़े में; जाके चाटना ! नहीं बनेगी मीठी रोटी !···मीठी रोटी खाने का मुंह होता है !— बिरजू की मां ने उबले शकरकंद का सूप रोती हुई चम्पिया के सामने रखते हुए कहा—बैठके छिलके उतार, नहीं तो अभी···।

दस साल की चम्पिया जानती है, शकरकंद छीलते समय कम से कम बारह बार मां उसे बाल पकड़कर झकझोरेगी, छोटी-छोटी खोट निकालकर गालियाँ देगी।···पांव फैलाके क्यों बैठी है उस तरह, बेलज्जी ! चम्पिया मां के गुस्से को जानती है।

बिरजू ने इस मौके पर थोड़ी-सी खुशामद करके देखा—मैया, मैं भी बैठकर शकरकंद छीलूं ?

—नहीं ! माँ ने झिड़की दी—एक शकरकंद छीलेगा और तीन पेट में ! जाके सिद्धू की बहू से कहो, एक घण्टे के लिए कड़ाही मांगकर ले गई तो फिर लौटाने का नाम ही नहीं। जा जल्दी !

मुँह लटकाकर आँगन से निकलते-निकलते विरजू ने शकरकंद और गुड़ पर निगाह दौड़ाई। चम्पिया ने अपने झबरे केश की ओट से माँ की ओर देखा और नज़र बचाकर चुपके से विरजू की ओर एक शकरकंद फेंक दिया।...विरजू भागा।

—सूरज भगवान डूब गए। दीयाबत्ती की बेला हो गई। अभी तक गाड़ी...

चम्पिया वीच में ही बोल उठी—कोयरी टोले में किसी ने गाड़ी नहीं दी मैया! वप्पा वोले, मां से कहना सब ठीक-ठाक करके तैयार रहे। मलदहिया टोली के मियांजान की गाड़ी लाने जा रहा हूँ।

सुनते ही विरजू की माँ का चेहरा उतर गया। लगा, छाते की कमानी उतर गई घोड़े से अचानक। कोयरी टोले में किसी ने गाड़ी मंगनी नहीं दी! तब मिल चुकी गाड़ी! जब अपने गाँव के लोगों की आँख में पानी नहीं तो मलदहिया टोली के मियांजान की गाड़ी का क्या भरोसा! न तीन में, न तेरह में! क्या होगा शकरकंद छीलकर! रख दे उठा के!...यह मर्द नाच दिखाएगा! बैलगाड़ी पर चढ़ाकर नाच दिखाने ले जाएगा! चढ़ चुकी बैलगाड़ी पर, देख चुकी जी-भर नाच!...पैदल जानेवाली सब पहुँचकर पुरानी हो चुकी होंगी।

विरजू छोटी कड़ाही सिर पर औंधाकर वापस आया—देख दिदिया, मलेटरी टोपी! इस पर दस लाठी मारने से भी कुछ नहीं होगा।

चम्पिया चुपचाप बैठी रही, कुछ बोली नहीं, जरा-सी मुस्कराई भी नहीं। बिरजू ने समझ लिया मैया का गुस्सा अभी उतरा नहीं है पूरे तौर से।

मड़ैया के अन्दर से वागड़ को बाहर भगाती हुई विरजू की मां बड़बड़ाई—कल ही पंचकौड़ी कसाई के हवाले करती हूँ राकस तुझे! हर चीज में मुँह लगाएगा। चम्पिया, बांध दे वगड़ा को। खोल दे गले की घण्टी। हमेशा टुनुर-टुनुर! मुझे ज़रा नहीं सुहाता है!

टुनुर-टुनुर सुनते ही विरजू को सड़क से जाती हुई बैलगाड़ियों की याद हो आई। अभी वबुआन टोले की गाड़ियां नाच देखने जा रही थीं—झुनुर-झुनुर बैलों की झुनकी, तुमने सु···

—वेसी वक-वक मत करो!—वागड़ के गले से झुनकी खोलती वोली चम्पिया।

—चम्पिया, डाल दे चूल्हे में पानी! वप्पा आवें तो कहना कि अपने उड़न-जहाज पर चढ़कर नाच देख आएं! मुझे नाच देखने का सौख नहीं!···मुझे जगाइयो मत कोई! मेरा माथा दुख रहा है।

मढ़ैया के ओसारे पर बिरजू ने फिसफिसा के पूछा—क्योंकर दिदिया, नाच में उड़नजहाज भी उड़ेगा?

चटाई पर कथरी ओढ़कर बैठती हुई चम्पिया ने विरजू को चुपचाप अपने पास बैठने का इशारा किया, मुफ़्त में मार खाएगा बेचारा!

विरजू ने बहन की कथरी में हिस्सा बाँटते हुए चुक्की-मुक्की लगाई। जाड़े के समय इस तरह घुटने पर ठुड्डी रखकर चुक्की-मुक्की लगाना सीख चुका है वह। उसने चम्पिया के कान के पास मुँह ले जाकर कहा—हम लोग नाच देखने नहीं जाएँगे?...गाँव में एक पंछी भी नहीं है। सब चले गए।

चम्पिया को अब तिल-भर भी भरोसा नहीं। संझा तारा डूब रहा है। वप्पा अभी तक गाड़ी लेकर नहीं लौटे।···एक महीना पहले से ही मैया कहती थी, वलरामपुर के नाच के दिन मीठी रोटी वनेगी; चम्पिया छींट की साड़ी पहनेगी; विरजू पैंट पहनेगा। बैलवाड़ी पर चढ़कर···

चम्पिया की भीगी पलकों पर एक बूंद आँसू आ गया।

विरजू का भी दिल भर आया। उसने मन ही मन इमली पर रहनेवाले जिन वावा को एक बैंगन कवूला, गाछ का सबसे पहला बैंगन, उसने खुद जिस पौधे को रोपा है!...जल्दी से गाड़ी लेकर वप्पा को भेज दो, जिनवावा!

मढ़ैया के अन्दर बिरजू की माँ चटाई पर पड़ी करवटें ले रही थी। उंह.

पहले से किसी बात का मनसूबा नहीं बाँधना चाहिए किसी को ! भगवान ने मनसूबा तोड़ दिया । उसको सबसे पहले भगवान से पूछना है, यह किस चूक का फल दे रहे हो भोला बाबा ! अपने जानते उसने किसी देवता-पित्तर की मान-मनौती बाकी नहीं रखी । सर्वे के समय जमीन के लिए जितनी मनौतियाँ की थीं···ठीक ही तो ! महावीरजी का रोट तो बाकी ही है । हाय रे दैव ! ···भूल-चूक माफ करो महावीर बाबा ! मनौती दूनी करके चढ़ाएगी बिरजू की माँ !...

बिरजू की माँ के मन में रह-रहकर जंगी की पुतोहू की बातें चुभती हैं, भक्-भक् बिजली बत्ती ! ···चोरी-चमारी करने वाले की बेटी-पुतोहू जलेगी नहीं । पाँच बीघा जमीन क्या हासिल की है बिरजू के बप्पा ने, गाँव की भाईखौकियों की आँखों किरकिरी पड़ गई है । खेत में पाट लगा देखकर गाँव के लोगों की छाती फटने लगी; धरती फोड़कर पाट लगा है; बैशाखी बादलों की तरह उमड़ते आ रहे हैं पाट के पौधे ! तो अलान तो फलान ! इतनी आँखों की धार भला फसल सहे ! जहाँ पन्द्रह मन पाट होना चाहिए, सिर्फ दस मन पाट कंटा पर तौल के ओजन हुआ रब्बी भगत के यहाँ ।···

इसमें जलने की क्या बात है भला !···बिरजू के बप्पा ने तो पहले ही कुर्मा टोली के एक-एक आदमी को समझा के कहा था, जिन्दगी भर मजदूरी करते रह जाओगे । सर्वे का समय आ रहा है, लाठी कड़ी करो तो दो-चार बीघे जमीन हासिल कर सकते हो । सो गाँव को किसी पुतखौकी का भतार सर्वे के समय बाबू साहेब के खिलाफ खाँसा भी नहीं ।···बिरजू के बप्पा को कम सहना पड़ा है ! बाबू साहेब गुस्से में सरकस के नाच के बाघ की तरह हुमड़ते रह गये । उनका बड़ा बेटा घर में आग लगाने की धमकी देकर गया ।... आख़िर बाबू साहेब ने अपने सबसे छोटे लड़के को भेजा । बिरजू की माँ को 'मौसी' कहके पुकारा—यह जमीन बाबूजी ने मेरे नाम से खरीदी थी । मेरी पढ़ाई-लिखाई उसी जमीन की उपज से चलती है ।···और भी कितनी बातें । खूब मोहना जानता है । उत्ता ज़रा-सा-लड़का । जमीदार का बेटा है कि···

—चम्पिया, विरजू सो गया क्या ! यहाँ आ जा विरजू, अन्दर ! तू भी आ जा, चम्पिया ।···भला आदमी आवे तो एक बार आज !

विरजू के साथ चम्पिया अन्दर चली गई ।

—ढिवरी बुझा दे।···बप्पा बुलाएँ तो जवाब मत देना। खप्पची गिरा दे ।

भला आदमी रे, भला आदभी ! मुंह देखो जरा इस मर्द का !···बिरजू की मां दिन-रात मंझा न देती रहती तो ले चुके थे जमीन ! रोज आकर माथा पकड़के बैठ जाएँ, मुझे जमीन नहीं लेनी है विरजू की मां, मजूरी ही अच्छी।··· जवाब देती थी बिरजू की माँ खूब सोच-समझके। छोड़ दो, जब तुम्हारा कलेजा ही स्थिर नहीं होता है तो क्या होगा ! जोरू-जमीन जोर के, नहीं तो किसी और के !···

विरजू के बाप पर बहुत तेजी से गुस्सा चढ़ता है । बढ़ता ही जाता है ।··· विरजू की माँ का भाग ही खराब है, जो ऐसा गोबरगनेश घरवाला उसे मिला। कौन-सा सौख-मौज दिया है उसके मर्द ने ! कोल्हू के बैल की तरह खटकर सारी उम्र काट दी इसके यहाँ, कभी एक पैसे की जलेबी भी लाकर दी है उसके खसम ने !···पाट का दाम भगत के यहाँ से लेकर बाहर ही बाहर बैल-हट्टा चले गए। विरजू की माँ को एक बार नमरी लोट देखने भी नहीं दिया आँख से ।···बैल खरीद लाए । उसी दिन से गाँव में ढिंढोरा पीटने लगे, बिरजू की माँ इस बार बैलगाड़ी पर चढ़कर जाएगी नाच देखने !···दूसरे की गाड़ी के भरोसे नाच दिखाएगा !···

अन्त में उसे अपने-आप पर क्रोध आया। वह खुद भी कुछ कम नहीं ! उसकी जीभ में आग लगे ! बैलगाड़ी पर चढ़ कर नाच देखने की लालसा किस कुसमय में उसके मुंह से निकली थी, भगवान जानें ! फिर आज सुबह से दोपहर तक, किसी न किसी बहाने उसने अट्ठारह बार बैलगाड़ी पर नाच देखने जाने की चर्चा छेड़ी है ।···लो, खूब देखो नाच ! वाह रे नाच ! कथरी के नीचे दुशाले का सपना !···कल भोरे पानी भरने के लिए जब जाएगी, पतली जीभ-

वाली पतुरिया सब हँसती आएँगी, हंसती जाएंगी।...सभी जलते हैं उससे, हाँ, भगवान दाढ़ीजार भी !...दो बच्चों की माँ होकर भी वह जस की तस है। उसका घरवाला उसकी बात में रहता है। वह बालों में गरी का तेल डालती है। उसकी अपनी जमीन है। है किसी के पास एक धूर जमीन भी अपनी इस गांव में ! जलेंगे नहीं, तीन बीघे में धान लगा हुआ है, अगहनी। लोगों की बिखदीठ से बचे, तब तो !

बाहर बैलों की घण्टियाँ सुनाई पड़ीं ! तीनों सतर्क हो गए। उत्कर्ण होकर सुनते रहे।

—अपने ही बैलों की घण्टी है, क्यों री चम्पिया ?

चम्पिया और बिरजू ने प्रायः एक ही साथ कहा—हूँ-ऊं-ऊं !

—चुप !—बिरजू की मां ने फिसफिसाकर कहा—शायद गाड़ी भी है ! घड़घड़ाती हैं न ?

—हूँ-ऊं-ऊं !—दोनों ने फिर हुँकारी भरी।

—चुप ! गाड़ी नहीं है। तू चुपके से टट्टी में छेद करके देख तो आ चम्पी ! भाग के आ, चुपके-चुपके।

चम्पिया बिल्ली की तरह हौले-हौले पाँव से टट्टी के छेद से झाँक आई—हाँ मैया, गाड़ी भी है !

बिरजू हड़बड़ाकर उठ बैठा। उसकी माँ ने उसे हाथ पकड़कर सुला दिया—बोले मत !

चम्पिया भी गुदड़ी के नीचे घुस गई।

बाहर बैलगाड़ी खोलने की आवाज हुई। बिरजू के बाप ने बैलों को जोर से डांटा—हां-हां ! आ गए घर ! आने के लिए छाती फटी जाती थी !

बिरजू की माँ ताड़ गई जरूर मलदहिया टोली में गांजे की चिलम चढ़ रही थी, आवाज तो बड़ी खनखनाती हुई निकल रही है।

—चम्पिया-ह ! वाहर से पुकारकर कहा उसके बाप ने—बैलों को घास दे दे, चम्पिया-ह !

अन्दर से कोई जवाब नहीं आया। चम्पिया के बाप ने आँगन में आकर देखा तो न रोशनी, न चिराग, न चूल्हे में आग।···बात क्या है ! नाच देखने, उतावली होकर, पैदल ही चली गई क्या···!

बिरजू के गले में खसखसाहट हुई और उसने रोकने की पूरी कोशिश भी की, लेकिन खांसी जब शुरू हुई तो पूरे पाँच मिनट तक वह खाँसता रहा।

— बिरजू ! बेटा बिरजमोहन !—बिरजू के बाप ने पुचकारकर बुलाया—मैया गुस्से के मारे सो गई क्या ?···अरे, अभी तो लोग जा ही रहे हैं।

बिरजू की मां के मन में आया कि कसकर जवाब दे, नहीं देखना है नाच, लौटा दो गाड़ी !

—चम्पिया-ह ! उठती क्यों नहीं ? ले, धान की पंचसीस रख दे। धान की बालियों का छोटा झब्बा झोंपड़े के ओसारे पर रखकर उसने कहा—दीया बालो !

बिरजू की मां उठकर ओसारे पर आई—डेढ़ पहर रात को गाड़ी लाने की क्या जरूरत थी ? नाच तो अब खत्म हो रहा होगा।

ढिबरी की रोशनी में धान की बालियों का रंग देखते ही बिरजू की मां के मन का सब मैल दूर हो गया।···धानी रंग उसकी आंखों से उतरकर रोम-रोम में घुल गया।

—नाच अभी शुरू भी नहीं हुआ होगा। अभी-अभी बलरामपुर के बाबू की कम्पनी गाड़ी मोहनपुर होटिल बंगला से हाकिम साहब को लाने गई है। इस साल आख़िरी नाच है।···पंचसीस टट्टी में खोंस दे, अपने खेत का है।

—अपने खेत का ?—हुलसती हुई बिरजू की माँ ने पूछा पक गए धान ?

—नहीं, दस दिन में अगहन चढ़ते-चढ़ते लाल होकर झुक जाएंगी सारे खेत की बालियाँ।···मलदहिया टोली जा रहा था, अपने खेत में धान देखकर

आँखें जुड़ा गईं । सच कहता हूँ, पंचसीस तोड़ते समय उँगलियाँ काँप रही थीं मेरी।

बिरजू ने धान की एक वाली से एक धान लेकर मुँह में डाल लिया और उसकी माँ ने एक हल्की डाँट दी—कैसा लुक्कड़ है तू रे !···इन दुश्मनों के मारे कोई नेम-धरम जो बचे !

—क्या हुआ, डाँटती क्यों है ?

—नवान्न के पहले ही नया धान जुटा दिया, देखते नहीं ?

—अरे, इन लोगों का सब-कुछ माफ है । चिरई-चुनमुन हैं ये लोग ! बस हम दोनों के मुँह में नवान्न के पहले नया अन्न न पड़े ।

इसके वाद चम्पिया ने भी धान की वाली से दो धान लेकर दाँतोंतले दवाया—ओ मैया ! इतना मीठा चावल !

—और गमता भी है न दिदिया ? बिरजू ने फिर मुंह में धान लिया ।

—रोटी-पोटी तैयार कर चुकी क्या ?—विरजू के वाप ने मुस्कराकर पूछा ।

—नहीं !—मान-भरे सुर में वोली बिरजू की मां—जाने का ठीक-ठिकाना नहीं···और रोटी बनाती है !

—वाह ! खूव हो तुम लोग !···जिसके पास बैल है, उसे गाड़ी मंगनी नहीं मिलेगी भला ? गाड़ीवालों को भी बैल की कभी जरूरत होगी ।···पूछूँगा तब कोयरीटोलावालों से !···ले जल्दी से रोटी बना ले ।

—देर नहीं होगी ?

—अरे, टोकरी-भर रोटी तो तू पलक मारते वना लेती है; पाँच रोटियां बनाने में कितनी देर लगेगी !

अब बिरजू की मां के ओठों पर मुस्कराहट खुलकर खेलने लगी । उसने नजर वचाकर देखा, विरजू का वप्पा उसकी ओर एकटक निहार रहा है ।··· चम्पिया और बिरजू न होते तो मन की वात हंसकर खोलते देर न लगती ।

चम्पिया और विरजू ने एक-दूसरे को देखा और खुशी से उनके चेहरे जगमगा उठे ।···मैया वेकार गुस्सा हो रही थी न !

—चम्पी ! जरा घैलसार में खड़ी होकर मखनी फुआ को आवाज दे तो !

—ऐ फू आ-आ ! सुनती हो फुआ-आ ! मैया बुला रही है !

फुआ ने कोई जवाव सीधे नहीं दिया, किन्तु उसकी वड़वड़ाहट स्पष्ट सुनाई पड़ी हां ! अब फुआ को क्यों गुहराती है ? सारे टोले में वस एक फुआ ही तो विना नाथ-पगहिया वाली है ।

—अरी फुआ !—विरजू की मां ने हंसकर जवाव दिया—उस समय बुरा मान गई थीं क्या ? नाथ-पगहिया वाले को आकर देखो, दो-पहर रात में गाड़ी लेकर आया है ! आ जाओ फुआ, मैं मीठी रोटी पकाना नहीं जानती ।

फुआ कांखती-खांसती आई—इसी से घड़ी-पहर दिन रहते ही पूछ रही थी कि नाच देखने जाएगी क्या ? कहती, तो मैं पहले से ही अपनी अंगीठी यहां सुलगा जाती ।

विरजू की मां ने फुआ को अंगीठी दिखला दी और कहा—घर में अनाज-दाना वगैरह तो कुछ है नहीं । एक वागड़ है और कुछ वरतन-वासन । सो रात-भर के लिए यहाँ तम्वाकू रख जाती हूँ । अपना हुक्का ले आई हो न फुआ ?

फुआ को तम्वाकू मिल जाए, तो रात-भर क्या, पांच रात वैठकर जाग सकती है । फुआ ने अंधेरे में टटोल कर तम्वाकू का अन्दाज किया ।···ओ-हो ! हाथ खोलकर तम्वाकू रखा है विरजू की माँ ने ! और एक वह सहुआइन ! राम कहो ! उस रात को अफीम की गोली की तरह एक मटर-भर तम्वाकू रखकर चली गई गुलाव वाग मेले और कह गई कि डिव्वी-भर तम्वाकू है ।

विरजू की माँ चूल्हा सुलगाने लगी । चम्पिया ने शकरकंद को मसल-कर गोले वनाए और विरजू सिर पर कड़ाही औंधाकर अपने वाप को

दिखलाने लगा—मलेटरी टोपी ! इस पर दस लाठी मारते से भी कुछ नहीं होगा !

सभी ठठाकर हँस पड़े। विरजू की माँ हँसकर बोली—ताखे पर तीन-चार मोटे शकरकंद हैं, दे दे विरजू को चम्पिया; बेचारा शाम से ही...

—बेचारा मत कहो मैया, खूब सचारा है !—अब चम्पिया चहकने लगी—तुम क्या जानो, कथरी के नीचे मुँह क्यों चल रहा था बाबू साहब का !

—ही-ही-ही !

विरजू के टूटे दूध के दाँतों की फाँक से बोली निकली—विलैक-मारटिन में पाँच शकरकंद खा लिया ! हा-हा-हा !

सभी फिर ठठाकर हँस पड़े। विरजू की माँ ने फुआ का मन रखने के लिए पूछा—एक कनवाँ गुड़ है। आधा डाल दूँ फुआ ?

फुआ ने गद्गद होकर कहा—अरी शकरकंद तो खुद मीठा होता है, उतना क्यों डालेगी !

जब तक दोनो बैल दाना-घास खाकर एक-दूसरे की देह को जीभ से चाटें, विरजू की माँ तैयार हो गई। चम्पिया ने छींट की साड़ी पहनी और विरजू बटन के अभाव में पैंट पर पटसन की डोरी बँधवाने लगा।

विरजू की माँ ने आँगन से निकल गांव की ओर कान लगाकर सुनने की चेष्टा की—उँहु, इतनी देर तक भला पैदल जाने वाले रुके रहेंगे !

पूर्णिमा का चाँद सिर पर आ गया है।...बिरजू की माँ ने असली रूपा का मंगटिक्का पहना है आज, पहली बार। विरजू के बप्पा को हो क्या गया है, गाड़ी जोतता क्यों नहीं, मुँह की ओर एक टक देख रहा है, मानो नाच की लाल पान की...

गाड़ी पर बैठते ही विरजू की माँ की देह में एक अजीब गुदगुदी लगने

लगी। उसने बाँस की बल्ली को पकड़कर कहा—गाड़ी पर अभी बहुत जगह है।…जरा दाहिनी सड़क से हांकना।

बैल जब दौड़ने लगे और पहिया जब चूं-चूं करके घरघराने लगा तो बिरजू से नहीं रहा गया—उड़न जहाज की तरह उड़ाओ बप्पा!

गाड़ी जँगी के पिछवाड़े पहुँची। बिरजू की माँ ने कहा—जरा जंगी से पूछो न, उसकी पुतोहू नाच देखने चली गई क्या?

गाड़ी रुकते ही जंगी के झोंपड़े से आती हुई रोने की आवाज स्पष्ट हो गई। बिरजू के बप्पा ने पूछा—अरे जंगी भाई, काहे कन्ना-रोहट हो रहा है। आँगन में?

जंगी धूर ताप रहा था, बोला—क्या पूछते हो, रंगी बलरामपुर से लौटा नहीं, पुतोहिया नाच देखने कैसे जाए! आसरा देखते-देखते उधर गांव की सभी औरतें चली गईं।

अरी टीशनवाली, तो रोती है काहे!—बिरजू की माँ ने पुकारकर कहा—आ जा झट से कपड़ा पहनकर। सारी गाड़ी पड़ी हुई है! बेचारी!…आ जा जल्दी!

बगल के झोंपड़े से राधे की बेटी सुनरी ने कहा—काकी, गाड़ी में जगह है? मैं भी जाऊँगी।

बाँस की झाड़ी के उस पार लरेना खवास का घर है। उसकी बहू भी नहीं गई है। गिलट का झुनकी-कड़ा पहनकर झमकती आ रही है।

—आ जा! जो बाकी रह गई हैं, सब आ जाएँ जल्दी!

जंगी की पुतोहू, लरेना की बीवी और राधे की बेटी सुनरी, तीनों गाड़ी के पास आईं। बैल ने पिछला पैर फेंका। बिरजू के बाप ने एक भद्दी गाली दी—साला! लताड़ मारकर लँगड़ी बनाएगा पुतोहू को!

सभी ठठाकर हँस पड़े। बिरजू के बाप ने घूंघट में झुकी दोनों पुतोहूओं को देखा। उसे अपने खेत की झुकी हुई बालियों की याद आ गई।

[२६१ ई० पू० सम्राट् अशोक ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसका कारण यह है कि कलिंग-नरेश सम्राट् अशोक की सत्ता स्वीकार करने में अपना अपमान समझते रहे हैं। उसने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। सम्राट् अशोक को यह सहन नहीं हो सकता। उसने उज्जैन और तक्षशिला में आत्माभिमान की जो दीक्षा प्राप्त की है, वह कलिंग-नरेश के स्वातंत्र्य-प्रेम से समझौता नहीं कर सकती। और जब अशोक ने महाराज चन्द्रगुप्त के वंश में जन्म लिया है, तो वह कैसे अपने अधिकार में आँख मूँद सकता है? इस समय उसका राज्य उत्तर में हिन्दूकुश से लेकर दक्षिण में पेनार नदी तक है और पश्चिम में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक। सिर्फ कलिंग एक मतवाले नाग की तरह सिर उठाये हुए विषम दृष्टि से अशोक की ओर देखता है। अशोक उस नाग का सिर कुचलना चाहता है। उसने दो वर्ष पहले कलिंग पर चढ़ाई कर दी है।

उसकी सैन्य-शक्ति अपार है। पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथियों को उसने कलिंग की सीमा पर अड़ा दिया है। वे आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सम्राट् अशोक स्वयं सैन्य-संचालन करते है। उनका शिविर उनकी सेनाओं के साथ है। वे युद्ध के अतिरिक्त किसी भी विषय पर बात नहीं करना चाहते। उनका व्यक्तित्व दृढ़ और तेजस्वी है। ऊँचा कद और भरे हुए अंग, जिन पर शस्त्र सजे हुए हैं, एक बड़ी ढाल उनकी पीठ पर कसी हुई है और तलवार उनके हाथ का भाग बन गई है। सुन्दर मुखाकृति, जिसमें अभिमान

और उत्साह का चित्र शक्ति की रेखाओं से खिंचा हुआ है। मस्तक पर शिरस्त्राण और कानों में कुण्डल, भौंहें मिली हुई और ओठ कसे हुए। शरीर पर सटा हुआ वस्त्र। चाल में सतर्कता और दृढ़ता। वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से ही कुछ क्षणों तक विपक्षी को अप्रतिम बना देते हैं और अपनी विजय को विपक्षी की मृत्यु की रेखाओं से ही गिनते हैं। वे दया के अनुकुल नहीं—क्रूरता के प्रतिकूल नहीं।

उनका शिविर इस समय गोदावरी तट पर है। दूर पानी के बहने और शिलाओं से टक्कर खाने की आवाज है। शिविर के चारों ओर लताओं और गुल्मों का जाल है। समस्त वातावरण में शान्ति और सौंदर्य है, जो कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भंग होता है लेकिन फिर शांत हो जाता है---जैसे एकाकी मार्ग में चलती हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख उठे लेकिन फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। शिविर के पर्दों पर शस्त्र त्रिकोण में या लम्बी रेखाओं के रूप में सजे हुए हैं। जगह-जगह युद्ध के वस्त्र टँगे हुए हैं।

इस समय शाम के छः बजे हैं। सम्राट् अशोक युद्ध से नहीं लौटे। उनकी रानी तिष्यरक्षिता शिविर में बैठी हैं। या तो सम्राट् अशोक ही महारानी तिष्यरक्षिता को अपने साथ युद्ध-कौशल दिखाने के लिए ले आये हैं या सम्राट् का वियोग सहन न कर सकने के कारण उनकी कुशल-कामना करते हुए, उन्हें अपने दृष्टि-पथ में रखने के लिए ही तिष्यरक्षिता सम्राट् अशोक के साथ चली आई हैं। इस समय वह अपने कक्ष में बैठी हुई चित्र बना रही हैं। शिविर के कक्ष से ऐश्वर्य बरस रहा है। स्तम्भों में स्वर्ण-लताएँ लिपटी हैं और उन पर रत्नों के फूल हैं, जो प्रकाश में ज्योति-मंडल बन जाते हैं।

नीलम और मोतियों की झालरों से कक्ष की दीवारों पर समुद्र की फैनिल लहरों का आभास उत्पन्न किया गया है। पीछे एक महराब है, जिसके दोनों ओर एक-एक हाथी घुटने टेके हुए हैं। चारों ओर दीप-स्तम्भ हैं, जिनमें दीपक जल रहे हैं। और उसी स्तम्भ में फूल के आकार के पात्र से सुगंध-धूम निकल रहा है। कक्ष के बीच में एक ऊँचा और सजा हुआ आसन है। उससे हट कर कोने की ओर चार छोटे-छोटे कुर्सीनुमा आसन हैं। उन आसनों में से एक पर तिष्यरक्षिता बैठी हुई है। उसके सामने चित्र-फलक पर एक अध बनी तस्वीर है, जिसमें प्रकृति का सौंदर्य अपनी पूर्णता के लिए तिष्यरक्षिता की तूलिका में से उतर रहा है।

कमरे में निस्तब्धता है। तिष्यरक्षिता चित्र बनाने में लीन है। रुककर एक ही स्थान पर खड़ी रह-कर वह भिन्न-भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही है। दो क्षणों तक चित्र देखने के बाद, वह अपनी तूलिका से दीप-स्तंभ के पात्र पर शब्द करती है। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है।]

तिष्यरक्षिता : चारु ! देख यह चित्र कितना अच्छा बन रहा है !

चारुमित्रा : बहुत अच्छा, महारानी !

तिष्यरक्षिता : चारु ! मैंने चाहा कि इसी जगह की प्रकृति का चित्र बना लूं। यहाँ रहते-रहते ये पेड़, ये झुरमुट, ये फूल, मुझे बहुत अच्छे लगने लगे हैं। लता खिलती है तो मालूम होता है जैसे उसके सुहाग के दिन आये हैं। और गोदावरी तो ऐसे बहती है, जैसे किसी के छूने पर उसे रोमांच हो आया है। तुझे भी तो यह जगह अच्छी लगी होगी ?

चारुमित्रा : हाँ महारानी ! मुझे बहुत अच्छी लगती है।

तिष्यरक्षिता : तब तो यह युद्ध समाप्त हो जाने दे। फिर तेरा विवाह इसी

जगह रचाऊँगी। इन्हीं पेड़ों के नीचे मंडप होगा और इन्हीं फूलों से तेरी मांग भरूँगी।

चारुमित्रा : महारानी ! आपका चित्र बहुत अच्छा बना है !

तिष्यरक्षिता : तू अपने विवाह की बात इस तरह उड़ा देना चाहती हैं ? इसी चित्र में तेरे विवाह का भी चित्र होगा।

चारुमित्रा : महारानी ! आप अपनी तुलिका को कष्ट न दें। आपकी कला हम लोगों के लिए बहुत ऊँची है।

तिष्यरक्षिता : तू बहुत मीठी बातें करती है चारु ! लेकिन मेरी कला जीवन के हर एक चित्र को अपना अङ्ग समझती है। यही दृश्य देख—कितना साधारण है पर मुझे तो बहुत प्रिय है।

चारुमित्रा : यह तो यहीं पास के कुंज का चित्र है।

तिष्यरक्षिता : हाँ, चारु ! मैं कल वहाँ गई थी महाराज के साथ। वे न जाने कैसे हो गये हैं ! हर समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिंग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है तब से तो सारा राज्य-कार्य महापात्रों पर ही छोड़ रक्खा है। आज दो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और कलिंग पर उनका क्रोध वैसा ही बना हुआ है !

चारुमित्रा : यह मेरे देश का दुर्भाग्य है !

तिष्यरक्षिता : मैं चाहती हूँ, चारु ! कि यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाय। सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। हमारे सुख और शांति के जीवन में जहाँ हँसी का फूल खिलना चाहिए, वहाँ आह और कराह काँटे की तरह चुभ जाती है।

चारुमित्रा : महारानी ! लड़ाई में यही आह और कराह तो तलवार का संगीत बनती है।

तिष्यरक्षिता : अच्छा, चारु ! यह बता, तूने कभी लड़ाई लड़ी है ?

चारुमित्रा : नहीं, महारानी !

तिष्यरक्षिता : तू जानती ही नहीं, लड़ाई किसे कहते हैं ? जीवन भी तो एक लड़ाई है। पुरुष की स्त्री से लड़ाई स्त्री की पुरुष से लड़ाई। स्त्री-पुरुष की पुरुष-स्त्री से लड़ाई ! तूने कभी लड़ाई लड़ी ही नहीं ?

चारुमित्रा : नहीं, महारानी !

तिष्यरक्षिता : विवाह होने से पहले इसका अभ्यास अवश्य कर ले !

चारुमित्रा : जी, महारानी !

तिष्यरक्षिता : और चारु ! मैं भी महाराज से लड़ना चाहती हूँ। वे यह युद्ध वन्द कर दें। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। कितने वीरों का नित्य रक्तपात होता है। आज जिन वीरों से देश की उन्नति होती, वही व्यर्थ मर रहे हैं—जो वीर मिट्टी छूकर सोना बनाते, वही आज मिट्टी हो रहे हैं !

चारुमित्रा : सच है, महारानी !

तिष्यरक्षिता : लेकिन कलिङ्ग के लोग लड़ना भी अच्छी तरह जानते हैं, नहीं तो मगध की सेना के सामने कौन टिक सकता है ? दो वर्षों से तो यह लड़ाई चल रही है !

चारुमित्रा : अभी वहुत वर्षों तक चलेगी, महारानी !

तिष्यरक्षिता : [आवेश से] क्या-क्या चारु ! तू महाराज की शक्ति का अपमान करती है ?

चारुमित्रा : महारानी ! क्षमा कीजिए। इसमें महाराज की शक्ति का अपमान नहीं है। मेरे कलिंग के लोग वीर हैं ! वे माता की तरह अपनी भूमि का आदर करते हैं जब तक एक भी वीर है, तब तक तो कलिंग की जय का घोष वायु को सहन करना ही होगा !

तिष्यरक्षिता : तू विद्रोह की बातें करती है, चारु !

चारुमित्रा : महारानी मैं विद्रोह की बातें नहीं करती, मैं अपने देश के गौरव की बातें कह रही हूँ।

तिष्यरक्षिता : तब तो तू महाराज के साथ विश्वासघात कर सकती है!

चारुमित्रा : महारानी! मैंने महाराज की सेवा उस समय से की है, जब उनका राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था। आपके चरणों की छाया में बड़ी हुई हूँ। जब मैं महाराज की सेवा में कलिंग से आई थी, तब तो युद्ध की बात नहीं थी। आज मेरा देश कलिंग संकट में है, तो महारानी! मुझे उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी?

तिष्यरक्षिता : चारु! तुझे पूरी आज्ञा है, किंतु मैं महराज का अपमान सहन नहीं कर सकती।

चारुमित्रा : संसार में उसका अपमान करने की क्षमता किसी में नहीं है, महारानी! और मैं तो उनकी आजन्म सेविका हूँ।

तिष्यरक्षिता : लेकिन जब से कलिंग-युद्ध आरम्भ हुआ है, तब से मैं महारानी होकर भी तुझसे डरती हूँ।

चारुमित्रा : महारानी, आप मुझे आत्म-हत्या की ओर प्रेरित करती हैं।

तिष्यरक्षिता : [हँसकर] मैं तो तुझसे हँसी कर रही थी, चारु! तू भी कभी हमसे विश्वासघात कर सकती है? चारु मुझे प्यास लग रही है।

चारुमित्रा : जो आज्ञा [कोने से पात्र भर कर देती है।]

तिष्यरक्षिता : [दो घूंट पीकर] लेकिन चारु यह युद्ध मुझे नहीं चाहिए। कितने दिनों से इस शिविर में रहते हुए जैसे मेरा सुख सपना बनता जा रहा है! महाराज का वियोग सहन कर सकती, तो चारु! मैं पाटलीपुत्र से कलिंग के इस शिविर में न आती। रात्रि में युद्ध की समाप्ति पर उनके दर्शन कर लेती हूँ तो जैसे फिर

युवती वन जाती हूँ। आज कहूँगी कि वे कलिंग का युद्ध बन्द कर दें। वीरों को स्वतन्त्र साँस लेने देना भी तो दया की क्रूरता पर विजय है। मुझे तो इस विजय पर ही संतोष है।

चारुमित्रा : आप देवी हैं।

तिष्यरक्षिता : फिर वतला क्या उपाय करूँ, चारु ? महाराज तक्षशिला में रह कर बड़े क्रूर वन गये हैं। कहते हैं, पूज्य पितामह जिन्होंने निकेटर सिल्यूकस की प्रचंड सेना का नाश कर दिया था, जिन्होंने अलक्षेंद्र के राज्य की दिशा वदल दी थी, तक्षशिला के ही तो विद्यार्थी थे। पितामह के योग्य पौत्र बनने का आदर्श जो है उनके सामने।

चारुमित्रा : हाँ, महारानी !

तिष्यरक्षिता : अच्छा, चारु ! आज महाराज से एक बात पूछूँगी कि आपके पूज्य पितामह ने तो सेल्यूकस पर विजय पाकर उनकी सुन्दरी कन्या पर भी विजय पाई थी। क्या आपकी विजय में किसी...

चारुमित्रा : महारानी ! क्षमा करें। कलिंग देश वीरों का देश है, कन्याओं का नहीं।

तिष्यरक्षिता : क्या कलिंग देश में कन्याएँ होती ही नहीं ? चारु ! तू तो अपने देश की प्रशंसा करते-करते ऊवती नहीं। महाराज की प्रशंसा क्यों नहीं करती जिन्होंने कलिंग से युद्ध होने पर भी कलिंग देश की सेविका को अपने देश से नहीं निकाला।

चारुमित्रा : महारानी ! महाराज अशोक सम्राट् हैं। मेरे यहाँ रहने से उनका क्या विगड़ता-वनता है !

तिष्यरक्षिता : आचार्य चाणक्य ने शत्रु के विषय में क्या कहा है, जानती है ? कहा है—शत्रु कभी छोटा नहीं होता।

चारुमित्रा : महारानी ! मैं अपने पद से अलग होने की आज्ञा चाहती हूँ।

तिष्यरक्षिता : [हँसकर] बस, बुरा मान गई ! बात-बात पर आज्ञा चाहती है। अरे, तू सेविका होकर भी मेरी सखी है। अच्छा देख, मेरा चित्र और ध्यान से देख !

चारुमित्रा : [ध्यान से देखते हुए] महारानी, आपने तो टूटे हुए वृक्ष बनाये हैं और उनमें लाल रंग भर दिया है।

तिष्यरक्षिता : बतला, इसमें क्या रहस्य है ?

चारुमित्रा : मैं चित्रकला नहीं जानती, महारानी !

तिष्यरक्षिता : अरे, यह तो साधारण समझ की बात है। यह चित्र मैं महाराज को दिखलाना चाहती हूँ। उनसे कहूँगी, देखिए आपने कलिंग के वीरों को तो रक्त से नहला ही दिया है, अब आपकी तलवार इन बेचारे वृक्षों पर भी पड़ी है और उनकी शाखाओं और टह-नियों से रक्त निकल रहा है।

चारुमित्रा : महारानी ! आपकी बात की थाह नहीं ली जा सकती।

तिष्यरक्षिता : चारु !

चारुमित्रा : महारानी !

तिष्यरक्षिता : महाराज अभी नहीं आये ?

चारुमित्रा : नहीं, महारानी !

तिष्यरक्षिता : देख यह गोदावरी का सुरम्य तट, ये पानी की लहरें जैसे सौंदर्य की मालाएँ हों जो अपने आप गुँथ कर बड़ी होती हैं और तट पर किसी का हृदय न पाकर टूट जाती हैं !

चारुमित्रा : हाँ महारानी !

तिष्यरक्षिता : और ये जो पक्षी उड़ते चले जा रहे हैं जैसे प्रेम की ग्रन्थियाँ हैं, जिन्होंने आकाश में उड़ना सीख लिया है। अच्छा सुन, यह समस्त वातावरण तेरा नाच देखना चाहता है। तू नाच सकेगी ?

चारुमित्रा : जो आज्ञा, महारानी !

तिष्यरक्षिता : जा, जल्दी पैरों में संगीत भर ला !

[चारु जाती है। तिष्य थोड़ी देर प्रकृति की ओर देखती है, फिर अपने चित्र के पास आकर तूलिका उठाती है और उसमें रंग भरने लगती है। धीरे-धीरे गाती जाती है—

अलि पहचान गया कली को !

[चारु पैरों में नूपुर पहन कर आती है और तिष्य के सामने खड़ी होती है।]

चारुमित्रा : आज्ञा है ?

तिष्यरक्षिता : मेरी और उस कली की भी जो नाच के साथ खिलना चाहती है।

[चारु प्रणाम कर नृत्य करती है। कुछ समय तक नृत्य होता है। तिष्य तन्मय होकर देखती है, कभी बीच में प्रशंसा करती जाती है। अकस्मात् 'महाराज अशोक की जय' का घोष। नृत्य रुक जाता है। तिष्य चारु को देखती है और चारु तिष्य को। 'महाराज अशोक की जय', 'सम्राट अशोक की जय'। शीघ्रता से एक परिचारिका का प्रवेश।]

परिचारिका : महारानी ! महाराज शिविर से लौट रहे हैं।

[जाती है।]

चारुमित्रा : महारानी ! अब क्या होगा ?

तिष्यरक्षिता : कुछ नहीं। तू अपने नूपुर उतार दे।

चारुमित्रा : [सिर हिलाकर] जो आज्ञा।

[बैठकर नूपुर उतारने लगती है। एक पैर का नूपुर उतर जाता है, लेकिन दूसरे पैर का उतारने में उलझ जाता है और प्रयत्न करने पर भी नहीं उतरता। इतने में ही जय-घोष के साथ महाराज अशोक का प्रवेश। तिष्य और चारु प्रणाम करती हैं। अशोक अभय-मुद्रा में हाथ ऊपर करते हैं।]

अशोक : देवि, आज युद्ध में फिर विजय ! ओह तुम्हारी मंगल-कामनाओं में कितनी शक्ति है ! विजय-विजय-विजय ! [हाथ उठाता है ।]

तिष्यरक्षिता : महाराज की विजय हो !

चारुमित्रा : महाराजाधिराज की विजय हो !

अशोक : देवि, शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी हाथी और घोड़े जैसे दुर्भाग्य की तरह अड़े हुए थे, किन्तु तुम्हारी मंगल-कामना ने मुझे और मेरे वीरों को ऐसी शक्ति दी कि वे सूखे पत्तों की तरह बिखर कर चूर-चूर हो गये ! मेरी शक्ति के पीछे देवि, ! तुम्हारी मंगल-कामना है । चारुमित्रा ! देवी पर पुष्प-वर्षा हो !

अशोक : [चारुमित्रा आगे बढ़ने के लिए पैर उठाती है कि उसके पैर का नुपूर शब्द कर उठता है ।]

अशोक : [चारुमित्रा के पैरों पर दृष्टि गड़ा कर] अरे यह क्या ? नृत्य ! संग्राम-भूमि में रंगभूमि ! [प्रश्नवाचक मुद्रा में] चारु ?

चारुमित्रा : महाराज ! क्षमा चाहती हूँ ।

अशोक : मेरी युद्ध-भूमि में केवल भैरवी का नृत्य हो सकता है, चारुमित्रा का नहीं ।

चारुमित्रा : महाराज…

अशोक : और उस भैरवी-नृत्य में तलवारों का संगीत होगा, नूपुरों का नहीं ।

चारुमित्रा : महाराज…

अशोक : मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा ! तुझे क्या पुरस्कार चाहिए ? रत्नों का हार ? मोतियों की माला ?

चारुमित्रा : मुझे दण्ड दीजिए, महाराज !

अशोक : मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा ! तुझे दंड ही मिलेगा । तू इस नीति से मुझे युद्ध करने से रोकना चाहती

है ? स्त्री ! कलिंग से उत्पन्न शरीर कलिंग का ही साथ देगा ! विश्वासघातिनी ! चारुमित्रा !! [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : राजुक ! चारुमित्रा जलते हुए अंगारों पर नाचना चाहती है ! आग तैयार हो !

राजुक : जो आज्ञा ! [प्रणाम कर प्रस्थान]

अशोक : चारुमित्रा ! दूसरे पैर में भी नूपुर पहन ले । एक पैर से पूरी ध्वनि नहीं निकलेगी । दूसरा पैर नूपुरों की प्रतीक्षा में है ।

[चारु दूसरे में भी नुपूर पहनने के लिए झुकती है]

तिष्यरक्षिता : महाराज !

अशोक : देवि !

तिष्यरक्षिता : महाराज ! चारु का दोष नहीं है ।

अशोक : देवि ! चारु का दोष नहीं है ? यह कैसी बात कहती हो ? कलिंग के शरीर ने कलिंग की आत्मा का मगध के साथ क्या व्यवहार हो सकता है ? चारु जानती है कि मेरे क्रोध में उसका देश जल रहा है । वह मेरे क्रोध की ज्वाला को शांत करने के लिए अपने संगीत और नृत्य का प्रयोग करना चाहती है । मुझे नहीं सुना सकती तो तुम्हें सुना कर तुम्हारे द्वारा मुझमें कोमलता का संचार करना चाहती है । मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे स्वभाव को भी उसने दया से भर दिया है ।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! दया करना तो स्त्री का स्वाभाविक धर्म है । चारु मुझे क्या दया से भर सकती है ! किन्तु महाराज ! चारु निरपराध है । आपके वियोग के क्षणों को काटने का वह मेरा साधारण उपाय था । मैंने ही चारु को आज्ञा दी थी कि वह नृत्य करे ।

अशोक : तुमने आज्ञा दी थी ?

तिष्यरक्षिता : हाँ, महाराज ! युद्ध के भयानक क्षणों में स्त्री के एकाकी हृदय को कौन-सा सहारा है, संगीत, नृत्य, चित्रकला ! यही तो !

अशोक : चारु अपनी ओर से नृत्य करने नहीं आई ?

तिष्यरक्षिता : नहीं नहीं महाराज ! उसे क्षमा कीजिए ।

अशोक : अशोक ने किसी भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया, किन्तु इस समय क्षमा करता हूँ [चारु की ओर देखकर] चारु ! तुम्हें क्षमा करता हूँ । अच्छा हो कि तुम्हारा नृत्य भैरवी नृत्य बनकर मगध की विजय के लिए हो ! और यदि ऐसा न कर सको तो फिर यह नृत्य अपने कलिंग के कटते हुए वीरों के रुण्डों और मुंडों के लिए रहने दो ! [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : आग तैयार हो गई ?

राजुक : जी ।

अशोक : उस आग से उन कायरों को शीतल करो जो आज युद्ध-भूमि से पीछे हटे हैं ।

राजुक : जो आज्ञा ! [जाने लगता है ।]

अशोक : और सुनो—यह मत सुनना कि वे संचालन-कौशल से सावधानी के साथ पीछे हटे हैं । युद्ध-भूमि के अतिरिक्त प्रत्येक भूमि वीरों के लिए कलंक भूमि है ।

राजुक : जो आज्ञा !

[जाता है]

अशोक : चारु ! जा, इन संगीत भरे पैरों को विश्राम की आवश्यकता है ।

[चारु सिर झुकाकर जाती है]

अशोक : देवि ! कलिंग से युद्ध करते समय मुझे ज्ञात होता था जैसे पाटलीपुत्र की शक्ति से एक प्रलय उत्पन्न हुआ है जो कलिंग को

रक्त के समुद्र में डुबाना चाहता है। तक्षशिला, गन्धार, उज्जैन और तोशली के बड़े-बड़े वीर मेरी घूमती हुई दृष्टि की दिशा में ही अपनी तलवार घुमाते थे। सेना की एक-एक टुकड़ी पानी की लहर की तरह बढ़ती और धीरे-धीरे बड़ी होकर शत्रुओं की तलवार से टकराती थी। वे तलवार भी नहीं घुमा सकते थे। उस समय मुझे तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी ललकार भी तलवार थी, जिसके सामने घूमा हुआ हथियार भी लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता था।

तिष्यरक्षिता : महाराज, इतना रक्तपात······

अशोक : मैंने अपनी सेना का अर्ध-व्यूह बनाकर आक्रमण किया था। शत्रु सोचते थे, जैसे सहस्रों धूमकेतु एक विशेष आकार में कसे हुए मौत की आग लेकर आ रहे हैं। न जाने कितने शत्रु हाथियों के पैरों से पिस गये—सैकड़ों घोड़ों के पैरों में उलझकर खून से लथ-पथ हो गये। मालूम होता था—रक्त का नाला महानदी में मिलने के लिए जा रहा है।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! इतना भयानक युद्ध !

अशोक : मुझ पर भी एक वीर ने तलवार चलाई। मैंने तक्षक की तरह अपना सिर बचा लिया। उसकी तलवार वायु-मंडल में शून्य चक्र बना कर रह गई। अपने निष्फल हुए आक्रमण के वेग से वह मुड़ गया। उसके मुड़ते ही मैंने तलवार की नोक उसकी पसलियों में घुसेड़ दी। उसकी ललकार आह में बदल कर खून में डूब गई। वह टूटे हुए पेड़ की तरह भूमि पर गिर पड़ा।

तिष्यरक्षिता : महाराज आपका युद्ध-कौशल भयानक है।

अशोक : फिर मैं मरे हुए घोड़े की पीठ से पैर टेक कर लड़ता रहा। शत्रुओं के नायक वीरभद्र की तलवार जैसे ही आगे गिरने के लिए अर्धचन्द्र बना रही थी वैसे ही मैंने झुक कर कक्ष भाग से

कंधे पर ऐसा वार किया कि अपने वेग में, भुजा समेत उड़ कर उसकी तलवार एक हाथी की पीठ में घुस गई। हाथी शत्रु-पक्ष को कुचलता हुआ भाग खड़ा हुआ। उसी समय सेना के पैर उखड़ गये और आज की विजय ने, देवि। तुम्हारे गले में माला पहना दी।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! बहुत भयानक युद्ध है ! अब सहन नहीं हो सकता।

अशोक : देवि ! तुम बड़ी कोमल-हृदया हो। युद्ध तुम्हारे लिए नहीं है। इसीलिए मैं चाहता था कि तुम पाटलीपुत्र में रहो। किन्तु तुम्हारा ही अनुरोध मुझे विवश कर सका कि तुम्हें साथ ले आया।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! यदि मैं एक अनुरोध और करूँ ?

अशोक : क्या ?

तिष्यरक्षिता : यह युद्ध रोक दीजिये ?

अशोक : यह क्या कह रही हो, देवि ? युद्ध का रुक जाना पाटलीपुत्र की उन्नति का रुक जाना है। किसी भी साम्राज्य की सीमा तलवार से खींची जाती है और सीमा को स्थायी रखने के लिए उस रेखा में रक्त का रंग भरा जाता है। [कक्ष में दृष्टि डालते हैं। चित्र-फलक पर दृष्टि डाल कर] अच्छा; यह तुमने बड़ा सुन्दर चित्र बनाया है ?

तिष्यरक्षिता : हाँ, महाराज ! आपको पसन्द है !

अशोक : बहुत ही सुन्दर है। यह तो उस कुंज का है, जहाँ बैठ कर मैंने युद्ध का कार्य-क्रम बनाया था।

तिष्यरक्षिता : हाँ, महाराज ! मैं भी साथ थी।

अशोक : तो ये वृक्ष टूटे हुए क्यों दिखाये गये हैं ?

तिष्यरक्षिता : महाराज ! युद्ध की गति में आपकी तलवार शत्रुओं पर पड़ने के साथ ही इन वृक्षों पर भी पड़ी है। वे बेचारे भी कट गये हैं और उनसे रक्त निकल रहा है !

अशोक : तो रक्त के स्थान पर लाल रंग की क्या आवश्यकता ? सच्चा रक्त भरो इनमें । वह तो बहुत मिल सकता है। मैंने कितने रक्त-प्रवाह की शारीरिक सीमाएँ नष्ट कर उन्हें पृथ्वी पर बहने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है । वहीं से रक्त लो !

तिष्यरक्षिता : महाराज ! मेरा हृदय काँप रहा है—इस युद्ध की भयानकता से ! आप क्यों इतने वीरों के रक्त से राज्य-श्री को अग्नि का रूप देना चाहते हैं ?

अशोक : देवि ! अग्नि में तप कर ही स्वर्ण पवित्र होता है । आज मेरी तलवार में शक्ति है । उसका अधिक से अधिक उपयोग होने दो ।

तिष्यरक्षिता : जैसी महाराज की इच्छा ! लेकिन मुझे बहुत दुःख है इस क्रूरता पर [सिर झुका लेती है ।]

अशोक : [मनाते हुए] तुम दुखी हो, देवि ? नहीं दुखी होने की क्या बात ? तुम तो दया की देवी हो । तुम्हें तो किसी के दुःख से भी दुःख होने लगता है । मैं यथा-शक्ति तुम्हारे सद्भावों की रक्षा तो करता हूँ । देखो देवि ! आज तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दन्ड के कृपाण को अच्छा रोका···

तिष्यरक्षिता : महाराज ! चारु निरपराध थी ।

अशोक : रण-भूमि की दृष्टि से या रंग-भूमि की दृष्टि से ?

तिष्यरक्षिता : महाराज ! वह सेविका है, आपके चरणों की छाया में ही बड़ी हुई है ।

अशोक : किन्तु आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर काटने-छाँटने की आवश्यकता होगी । देवि, मैं अपने शिविर में शत्रु-पक्ष के किसी व्यक्ति को अब रहने की आज्ञा नहीं दे सकता ।

तिष्यरक्षिता : किन्तु अब वह शत्रु-पक्ष की कहाँ है ? महाराज ! वह तो उस समय से आपकी सेविका है, जब कलिंग-युद्ध छिड़ा भी नहीं था ।

अशोक : किन्तु कृपा की दृष्टि राजनीति की दृष्टि नहीं होती, देवि ! आज युद्ध से लौटते समय मैंने चारु के सम्बन्ध में विचार किया था।

तिष्यरक्षिता : युद्ध से लौटते समय !

अशोक : हाँ, युद्ध से लौटते सभय कलिंग के कुछ व्यक्ति मुझे प्रणाम कर रहे थे, मुझे उनके प्रणाम में चारु का प्रणाम भी दीख पड़ा। यदि इस समय चारु नृत्य न भी करती तो भी मैं उसे दन्डित तो करता ही।

तिष्यरक्षिता : किन्तु वह बेचारी !

अशोक : राजनीति तिष्यरक्षिता नहीं है देवि ! जो दया से तरल हो जाय। किन्तु आज तुम्हारे कहने से मैंने राजनीति को स्त्री का हृदय बना दिया।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! आपकी कृपा। विश्राम कीजिये।

अशोक : देवि ! मुझे विश्राम ! पितामह चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष के शासन में कितना विश्राम किया ? तक्षशिला से मगध तक पृथ्वी का प्रत्येक कण उनकी आहट सुन कर काँपता था। बहुत से छोटे-छोटे राज्यों को एक संघ में गूँथ कर उन्होंने अपनी राज्य-श्री को विजय-माला पहनाई थी। सेल्यूकस निकेटर से गांधार और सीमाप्रांत लेकर आर्यावर्त के मुकुट में उन्होंने कुछ रत्न और जड़ दिये थे। मैं उन्हीं की सन्तान हूँ, देवि ! विश्राम के लम्बे क्षणों में राज्य-सीमा संकुचित हो जाती है।

तिष्यरक्षिता : ठीक है, महाराज ! पर कलिंग-युद्ध ने आपको बहुत उत्तेजित कर दिया है !

अशोक : कलिंग अपने को सम्राट् मानता है। वह पाटली-पुत्र का आधिपत्य नहीं मानता। सुमात्रा और जावा में उसने अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं। जल-यानों में विहार करता है और समझता है कि वह आर्यावर्त का सम्राट् है। तिष्या ! वह मेरे

[२६१ ई० पू० सम्राट् अशोक ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसका कारण यह है कि कलिंग-नरेश सम्राट् अशोक की सत्ता स्वीकार करने में अपना अपमान समझते रहे हैं। उसने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। सम्राट् अशोक को यह सहन नहीं हो सकता। उसने उज्जैन और तक्षशिला में आत्माभिमान की जो दीक्षा प्राप्त की है, वह कलिंग-नरेश के स्वातंत्र्य-प्रेम से समझौता नहीं कर सकती। और जब अशोक ने महाराज चन्द्रगुप्त के वंश में जन्म लिया है, तो वह कैसे अपने अधिकार में आँख मूँद सकता है ? इस समय उसका राज्य उत्तर में हिन्दूकुश से लेकर दक्षिण में पेनार नदी तक है और पश्चिम में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक। सिर्फ कलिंग एक मतवाले नाग की तरह सिर उठाये हुए विषम दृष्टि से अशोक की ओर देखता है। अशोक उस नाग का सिर कुचलना चाहता है। उसने दो वर्ष पहले कलिंग पर चढ़ाई कर दी है।

उसकी सैन्य-शक्ति अपार है। पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथियों को उसने कलिंग की सीमा पर अड़ा दिया है। वे आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सम्राट् अशोक स्वयं सैन्य-संचालन करते हैं। उनका शिविर उनकी सेनाओं के साथ है। वे युद्ध के अतिरिक्त किसी भी विषय पर बात नहीं करना चाहते। उनका व्यक्तित्व दृढ़ और तेजस्वी है। ऊँचा कद और भरे हुए अंग, जिन पर शस्त्र सजे हुए हैं, एक बड़ी ढाल उनकी पीठ पर कसी हुई है और तलवार उनके हाथ का भाग बन गई है। सुन्दर मुखाकृति, जिसमें अभिमान

और उत्साह का चित्र शक्ति की रेखाओं से खिंचा हुआ है। मस्तक पर शिरस्त्राण और कानों में कुण्डंल, भौंहें मिली हुई और ओठ कसे हुए। शरीर पर सटा हुआ वस्त्र। चाल में सतर्कता और दृढ़ता। वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से ही कुछ क्षणों तक विपक्षी को अप्रतिम बना देते हैं और अपनी विजय को विपक्षी की मृत्यु की रेखाओं से ही गिनते हैं। वे दया के अनुकुल नहीं—क्रूरता के प्रतिकूल नहीं।

उनका शिविर इस समय गोदावरी तट पर है। दूर पानी के बहने और शिलाओं से टक्कर खाने की आवाज है। शिविर के चारों ओर लताओं और गुल्मों का जाल है। समस्त वातावरण में शान्ति और सौंदर्य है, जो कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भंग होता है लेकिन फिर शांत हो जाता है---जैसे एकाकी मार्ग में चलती हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख उठे लेकिन फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। शिविर के पर्दों पर शस्त्र त्रिकोण में या लम्बी रेखाओं के रूप में सजे हुए हैं। जगह-जगह युद्ध के वस्त्र टंगे हुए हैं।

इस समय शाम के छः बजे हैं। सम्राट् अशोक युद्ध से नहीं लौटे। उनकी रानी तिष्यरक्षिता शिविर में बैठी हैं। या तो सम्राट् अशोक ही महारानी तिष्यरक्षिता को अपने साथ युद्ध-कौशल दिखाने के लिए ले आये हैं या सम्राट् का वियोग सहन न कर सकने के कारण उनकी कुशल-कामना करते हुए, उन्हें अपने दृष्टि-पथ में रखने के लिए ही तिष्यरक्षिता सम्राट् अशोक के साथ चली आई हैं। इस समय वह अपने कक्ष में बैठी हुई चित्र बना रही हैं। शिविर के कक्ष से ऐश्वर्य बरस रहा है। स्तम्भों में स्वर्ण-लताएँ लिपटी हैं और उन पर रत्नों के फूल हैं, जो प्रकाश में ज्योति-मंडल बन जाते हैं।

नीलम और मोतियों की झालरों से कक्ष की दीवारों पर समुद्र की फैनिल लहरों का आभास उत्पन्न किया गया है। पीछे एक महराब है, जिसके दोनों ओर एक-एक हाथी घुटने टेके हुए हैं। चारों ओर दीप-स्तम्भ हैं, जिनमें दीपक जल रहे हैं। और उसी स्तम्भ में फूल के आकार के पात्र से सुगंध-धूम निकल रहा है। कक्ष के बीच में एक ऊँचा और सजा हुआ आसन है। उससे हट कर कोने की ओर चार छोटे-छोटे कुर्सीनुमा आसन हैं। उन आसनों में से एक पर तिष्यरक्षिता बैठी हुई है। उसके सामने चित्र-फलक पर एक अध बनी तस्वीर है, जिसमें प्रकृति का सौंदर्य अपनी पूर्णता के लिए तिष्यरक्षिता की तूलिका में से उतर रहा है।

कमरे में निस्तब्धता है। तिष्यरक्षिता चित्र बनाने में लीन है। रुककर एक ही स्थान पर खड़ी रह-कर वह भिन्न-भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही है। दो क्षणों तक चित्र देखनें के बाद, वह अपनी तूलिका से दीप-स्तंभ के पात्र पर शब्द करती है। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है।]

तिष्यरक्षिता : चारु ! देख यह चित्र कितना अच्छा बन रहा है !

चारुमित्रा : बहुत अच्छा, महारानी !

तिष्यरक्षिता : चारु ! मैंने चाहा कि इसी जगह की प्रकृति का चित्र बना लूँ। यहाँ रहते-रहते ये पेड़, ये झुरमुट, ये फूल, मुझे बहुत अच्छे लगने लगे हैं। लता खिलती है तो मालूम होता है जैसे उसके सुहाग के दिन आये हैं। और गोदावरी तो ऐसे बहती है, जैसे किसी के छूने पर उसे रोमांच हो आया है। तुझे भी तो यह जगह अच्छी लगी होगी ?

चारुमित्रा : हाँ महारानी ! मुझे बहुत अच्छी लगती है।

तिष्यरक्षिता : तब तो यह युद्ध समाप्त हो जाने दे। फिर तेरा विवाह इसी

जगह रचाऊँगी। इन्हीं पेड़ों के नीचे मंडप होगा और इन्हीं फूलों से तेरी माँग भरूँगी।

चारुमित्रा : महारानी! आपका चित्र बहुत अच्छा बना है!

तिष्यरक्षिता : तू अपने विवाह की बात इस तरह उड़ा देना चाहती है? इसी चित्र में तेरे विवाह का भी चित्र होगा।

चारुमित्रा : महारानी! आप अपनी तुलिका को कष्ट न दें। आपकी कला हम लोगों के लिए बहुत ऊँची है।

तिष्यरक्षिता : तू बहुत मीठी बातें करती है चारु! लेकिन मेरी कला जीवन के हर एक चित्र को अपना अङ्ग समझती है। यही दृश्य देख— कितना साधारण है पर मुझे तो बहुत प्रिय है।

चारुमित्रा : यह तो यहीं पास के कुंज का चित्र है।

तिष्यरक्षिता : हाँ, चारु! मैं कल वहाँ गई थी महाराज के साथ। वे न जाने कैसे हो गये हैं! हर समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिंग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है तब से तो सारा राज्य-कार्य महापात्रों पर ही छोड़ रक्खा है। आज दो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और कलिंग पर उनका क्रोध वैसा ही बना हुआ है!

चारुमित्रा : यह मेरे देश का दुर्भाग्य है!

तिष्यरक्षिता : मैं चाहती हूँ, चारु! कि यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाय। सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। हमारे सुख और शांति के जीवन में जहाँ हँसी का फूल खिलना चाहिए, वहाँ आह और कराह काँटे की तरह चुभ जाती है।

चारुमित्रा : महारानी! लड़ाई में यही आह और कराह तो तलवार का संगीत बनती है।

तिष्यरक्षिता : अच्छा, चारु! यह बता, तूने कभी लड़ाई लड़ी है?

चारुमित्रा : नहीं, महारानी!

तिष्यरक्षिता : तू जानती ही नहीं, लड़ाई किसे कहते हैं ? जीवन भी तो एक लड़ाई है। पुरुष की स्त्री से लड़ाई स्त्री की पुरुष से लड़ाई। स्त्री-पुरुष की पुरुष-स्त्री से लड़ाई ! तूने कभी लड़ाई लड़ी ही नहीं ?

चारुमित्रा : नहीं, महारानी !

तिष्यरक्षिता : विवाह होने से पहले इसका अभ्यास अवश्य कर ले !

चारुमित्रा : जी, महारानी !

तिष्यरक्षिता : और चारु ! मैं भी महाराज से लड़ना चाहती हूँ। वे यह युद्ध बन्द कर दें। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। कितने वीरों का नित्य रक्तपात होता है। आज जिन वीरों से देश की उन्नति होती, वही व्यर्थ मर रहे हैं—जो वीर मिट्टी छूकर सोना बनाते, वही आज मिट्टी हो रहे हैं !

चारुमित्रा : सच है, महारानी !

तिष्यरक्षिता : लेकिन कलिङ्ग के लोग लड़ना भी अच्छी तरह जानते हैं, नहीं तो मगध की सेना के सामने कौन टिक सकता है ? दो वर्षों से तो यह लड़ाई चल रही है !

चारुमित्रा : अभी बहुत वर्षों तक चलेगी, महारानी !

तिष्यरक्षिता : [आवेश से] क्या-क्या चारु ! तू महाराज की शक्ति का अपमान करती है ?

चारुमित्रा : महारानी ! क्षमा कीजिए। इसमें महाराज की शक्ति का अपमान नहीं हैं। मेरे कलिंग के लोग वीर हैं ! वे माता की तरह अपनी भूमि का आदर करते हैं जब तक एक भी वीर है, तब तक तो कलिंग की जय का घोष वायु को वहन करना ही होगा !

तिष्यरक्षिता : तू विद्रोह की बातें करती है, चारु !

चारुमित्रा : महारानी मैं विद्रोह की बातें नहीं करती, मैं अपने देश के गौरव की बातें कह रही हूँ।

तिष्यरक्षिता : तब तो तू महाराज के साथ विश्वासघात कर सकती है !

चारुमित्रा : महारानी ! मैंने महाराज की सेवा उस समय से की है, जब उनका राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था। आपके चरणों की छाया में बड़ी हुई हूँ। जब मैं महाराज की सेवा में कलिंग से आई थी, तब तो युद्ध की बात नहीं थी। आज मेरा देश कलिंग संकट में है, तो महारानी ! मुझे उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी ?

तिष्यरक्षिता : चारु ! तुझे पूरी आज्ञा है, किंतु मैं महराज का अपमान सहन नहीं कर सकती।

चारुमित्रा : संसार में उसका अपमान करने की क्षमता किसी में नहीं है, महारानी ! और मैं तो उनकी आजन्म सेविका हूँ।

तिष्यरक्षिता : लेकिन जब से कलिंग-युद्ध आरम्भ हुआ है, तब से मैं महारानी होकर भी तुझसे डरती हूँ।

चारुमित्रा : महारानी, आप मुझे आत्म-हत्या की ओर प्रेरित करती हैं।

तिष्यरक्षिता : [हँसकर] मैं तो तुझसे हँसी कर रही थी, चारु ! तू भी कभी हमसे विश्वासघात कर सकती है,? चारु मुझे प्यास लग रही है।

चारुमित्रा : जो आज्ञा [कोने से पात्र भर कर देती है।]

तिष्यरक्षिता : [दो घूंट पीकर] लेकिन चारु यह युद्ध मुझे नहीं चाहिए। कितने दिनों से इस शिविर में रहते हुए जैसे मेरा सुख सपना बनता जा रहा है ! महाराज का वियोग सहन कर सकती, तो चारु ! मैं पाटलीपुत्र से कलिंग के इस शिविर में न आती। रात्रि में युद्ध की समाप्ति पर उनके दर्शन कर लेती हूँ तो जैसे फिर

युवती बन जाती हूँ। आज कहूँगी कि वे कलिंग का युद्ध बन्द कर दें। वीरों को स्वतन्त्र साँस लेने देना भी तो दया की क्रूरता पर विजय है। मुझे तो इस विजय पर ही संतोष है।

चारुमित्रा : आप देवी हैं।

तिष्यरक्षिता : फिर बतला क्या उपाय करूँ, चारु ? महाराज तक्षशिला में रह कर बड़े क्रूर बन गये हैं। कहते हैं, पूज्य पितामह जिन्होंने निकेटर सिल्यूकस की प्रचंड सेना का नाश कर दिया था, जिन्होंने अलक्षेंद्र के राज्य की दिशा बदल दी थी, तक्षशिला के ही तो विद्यार्थी थे। पितामह के योग्य पौत्र बनने का आदर्श जो है उनके सामने।

चारुमित्रा : हाँ, महारानी !

तिष्यरक्षिता : अच्छा, चारु ! आज महाराज से एक बात पूछूँगी कि आपके पूज्य पितामह ने तो सेल्यूकस पर विजय पाकर उनकी सुन्दरी कन्या पर भी विजय पाई थी। क्या आपकी विजय में किसी...

चारुमित्रा : महारानी ! क्षमा करें। कलिंग देश वीरों का देश है, कन्याओं का नहीं।

तिष्यरक्षिता : क्या कलिंग देश में कन्याएँ होती ही नहीं ? चारु ! तू तो अपने देश की प्रशंसा करते-करते ऊबती नहीं। महाराज की प्रशंसा क्यों नहीं करती जिन्होंने कलिंग से युद्ध होने पर भी कलिंग देश की सेविका को अपने देश से नहीं निकाला।

चारुमित्रा : महारानी ! महाराज अशोक सम्राट् हैं। मेरे यहाँ रहने से उनका क्या बिगड़ता-बनता है !

तिष्यरक्षिता : आचार्य चाणक्य ने शत्रु के विषय में क्या कहा है, जानती है ? कहा है—शत्रु कभी छोटा नहीं होता।

चारुमित्रा : महारानी ! मैं अपने पद से अलग होने की आज्ञा चाहती हूँ।

तिष्यरक्षिता : [हँसकर] बस, बुरा मान गई ! बात-बात पर आज्ञा चाहती है । अरे, तू सेविका होकर भी मेरी सखी है । अच्छा देख, मेरा चित्र और ध्यान से देख !

चारुमित्रा : [ध्यान से देखते हुए] महारानी, आपने तो टूटे हुए वृक्ष बनाये हैं और उनमें लाल रंग भर दिया है ।

तिष्यरक्षिता : बतला, इसमें क्या रहस्य है ?

चारुमित्रा : मैं चित्रकला नहीं जानती, महारानी !

तिष्यरक्षिता : अरे, यह तो साधारण समझ की बात है । यह चित्र मैं महाराज को दिखलाना चाहती हूँ । उनसे कहूँगी, देखिए आपने कलिंग के वीरों को तो रक्त से नहला ही दिया है, अब आपकी तलवार इन बेचारे वृक्षों पर भी पड़ी है और उनकी शाखाओं और टह-नियों से रक्त निकल रहा है ।

चारुमित्रा : महारानी ! आपकी बात की थाह नहीं ली जा सकती ।

तिष्यरक्षिता : चारु !

चारुमित्रा : महारानी !

तिष्यरक्षिता : महाराज अभी नहीं आये ?

चारुमित्रा : नहीं, महारानी !

तिष्यरक्षिता : देख यह गोदावरी का सुरम्य तट, ये पानी की लहरें जैसे सौंदर्य की मालाएँ हों जो अपने आप गुँथ कर बड़ी होती हैं और तट पर किसी का हृदय न पाकर टूट जाती हैं !

चारुमित्रा : हाँ महारानी !

तिष्यरक्षिता : और ये जो पक्षी उड़ते चले जा रहे हैं जैसे प्रेम की ग्रन्थियाँ हैं, जिन्होंने आकाश में उड़ना सीख लिया है । अच्छा सुन, यह समस्त वातावरण तेरा नाच देखना चाहता है । तू नाच सकेगी ?

चारुमित्रा : जो आज्ञा, महारानी !

तिष्यरक्षिता : जा, जल्दी पैरों में संगीत भर ला !

[चारु जाती है। तिष्य थोड़ी देर प्रकृति की ओर देखती है, फिर अपने चित्र के पास आकर तूलिका उठाती है और उसमें रंग भरने लगती है। धीरे-धीरे गाती जाती है—

अलि पहचान गया कली को !

[चारु पैरों में नूपुर पहन कर आती है और तिष्य के सामने खड़ी होती है।]

चारुमित्रा : आज्ञा है ?

तिष्यरक्षिता : मेरी और उस कली की भी जो नाच के साथ खिलना चाहती है।

[चारु प्रणाम कर नृत्य करती है। कुछ समय तक नृत्य होता है। तिष्य तन्मय होकर देखती है, कभी बीच में प्रशंसा करती जाती है। अकस्मात् 'महाराज अशोक की जय' का घोष। नृत्य रुक जाता है। तिष्य चारु को देखती है और चारु तिष्य को। 'महाराज अशोक की जय', 'सम्राट अशोक की जय'। शीघ्रता से एक परिचारिका का प्रवेश।]

परिचारिका : महाराज्ञी ! महाराज शिविर से लौट रहे हैं।

[जाती है।]

चारुमित्रा : महाराज्ञी ! अब क्या होगा ?

तिष्यरक्षिता : कुछ नहीं। तू अपने नूपुर उतार दे।

चारुमित्रा : [सिर हिलाकर] जो आज्ञा।

[बैठकर नूपुर उतारने लगती है। एक पैर का नूपुर उतर जाता है, लेकिन दूसरे पैर का उतारने में उलझ जाता है और प्रयत्न करने पर भी नहीं उतरता। इतने में ही जय-घोष के साथ महाराज अशोक का प्रवेश। तिष्य और चारु प्रणाम करती हैं। अशोक अभय-मुद्रा में हाथ ऊपर करते हैं।]

अशोक : देवि, आज युद्ध में फिर विजय ! ओह तुम्हारी मंगल-कामनाओं में कितनी शक्ति है ! विजय-विजय-विजय ! [हाथ उठाता है।]

तिष्यरक्षिता : महाराज की विजय हो !

चारुमित्रा : महाराजाधिराज की विजय हो !

अशोक : देवि, शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी हाथी और घोड़े जैसे दुर्भाग्य की तरह अड़े हुए थे, किन्तु तुम्हारी मंगल-कामना ने मुझे और मेरे वीरों को ऐसी शक्ति दी कि वे सूखे पत्तों की तरह बिखर कर चूर-चूर हो गये ! मेरी शक्ति के पीछे देवि, ! तुम्हारी मंगल-कामना है। चारुमित्रा ! देवी पर पुष्प-वर्षा हो !

अशोक : [चारुमित्रा आगे बढ़ने के लिए पैर उठाती है कि उसके पैर का नुपूर शब्द कर उठता है।]

अशोक : [चारुमित्रा के पैरों पर दृष्टि गड़ा कर] अरे यह क्या ? नृत्य ! संग्राम-भूमि में रंगभूमि ! [प्रश्नवाचक मुद्रा में] चारु ?

चारुमित्रा : महाराज ! क्षमा चाहती हूँ।

अशोक : मेरी युद्ध-भूमि में केवल भैरवी का नृत्य हो सकता है, चारुमित्रा का नहीं।

चारुमित्रा : महाराज···

अशोक : और उस भैरवी-नृत्य में तलवारों का संगीत होगा, नूपुरों का नहीं।

चारुमित्रा : महाराज···

अशोक : मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा ! तुझे क्या पुरस्कार चाहिए ? रत्नों का हार ? मोतियों की माला ?

चारुमित्रा : मुझे दण्ड दीजिए, महाराज !

अशोक : मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा ! तुझे दंड ही मिलेगा। तू इस नीति से मुझे युद्ध करने से रोकना चाहती

है ? स्त्री ! कलिंग से उत्पन्न शरीर कलिंग का ही साथ देगा ! विश्वासघातिनी ! चारुमित्रा !! [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : राजुक ! चारुमित्रा जलते हुए अंगारों पर नाचना चाहती है ! आग तैयार हो !

राजुक : जो आज्ञा ! [प्रणाम कर प्रस्थान]

अशोक : चारुमित्रा ! दूसरे पैर में भी नूपुर पहन ले । एक पैर से पूरी ध्वनि नहीं निकलेगी । दूसरा पैर नूपुरों की प्रतीक्षा में है ।

[चारु दूसरे में भी नुंपूर पहनने के लिए झुकती है]

तिष्यरक्षिता : महाराज !

अशोक : देवि !

तिष्यरक्षिता : महाराज ! चारु का दोष नहीं है ।

अशोक : देवि ! चारु का दोष नहीं है ? यह कैसी बात कहती हो ? कलिंग के शरीर ने कलिंग की आत्मा का मगध के साथ क्या व्यवहार हो सकता है ? चारु जानती है कि मेरे क्रोध में उसका देश जल रहा है । वह मेरे क्रोध की ज्वाला को शांत करने के लिए अपने संगीत और नृत्य का प्रयोग करना चाहती है । मुझे नहीं सुना सकती तो तुम्हें सुना कर तुम्हारे द्वारा मुझमें कोमलता का संचार करना चाहती है । मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे स्वभाव को भी उसने दया से भर दिया है ।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! दया करना तो स्त्री का स्वाभाविक धर्म है । चारु मुझे क्या दया से भर सकती है ! किन्तु महाराज ! चारु निरपराध है । आपके वियोग के क्षणों को काटने का वह मेरा साधारण उपाय था । मैंने ही चारु को आज्ञा दी थी कि वह नृत्य करे ।

अशोक : तुमने आज्ञा दी थी ?

तिष्यरक्षिता : हाँ, महाराज ! युद्ध के भयानक क्षणों में स्त्री के एकाकी हृदय को कौन-सा सहारा है, संगीत, नृत्य, चित्रकला ! यही तो !

अशोक : चारु अपनी ओर से नृत्य करने नहीं आई ?

तिष्यरक्षिता : नहीं नहीं महाराज ! उसे क्षमा कीजिए।

अशोक : अशोक ने किसी भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया, किन्तु इस समय क्षमा करता हूँ [चारु की ओर देखकर] चारु ! तुम्हें क्षमा करता हूँ। अच्छा हो कि तुम्हारा नृत्य भैरवी नृत्य बनकर मगध की विजय के लिए हो ! और यदि ऐसा न कर सको तो फिर यह नृत्य अपने कलिंग के कटते हुए वीरों के रुण्डों और मुंडों के लिए रहने दो ! [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक : आग तैयार हो गई ?

राजुक : जी।

अशोक : उस आग से उन कायरों को शीतल करो जो आज युद्ध-भूमि से पीछे हटे हैं।

राजुक : जो आज्ञा ! [जाने लगता है।]

अशोक : और सुनो—यह मत सुनना कि वे संचालन-कौशल से सावधानी के साथ पीछे हटे हैं। युद्ध-भूमि के अतिरिक्त प्रत्येक भूमि वीरों के लिए कलंक भूमि है।

राजुक : जो आज्ञा !

[जाता है]

अशोक : चारु ! जा, इन संगीत भरे पैरों को विश्राम की आवश्यकता है।

[चारु सिर झुकाकर जाती है]

अशोक : देवि ! कलिंग से युद्ध करते समय मुझे ज्ञात होता था जैसे पाटलीपुत्र की शक्ति से एक प्रलय उत्पन्न हुआ है जो कलिंग को

रक्त के समुद्र में डुबाना चाहता है। तक्षशिला, गन्धार, उज्जैन और तोशली के बड़े-बड़े वीर मेरी घूमती हुई दृष्टि की दिशा में ही अपनी तलवार घुमाते थे। सेना की एक-एक टुकड़ी पानी की लहर की तरह बढ़ती और धीरे-धीरे बड़ी होकर शत्रुओं की तलवार से टकराती थी। वे तलवार भी नहीं घुमा सकते थे। उस समय मुझे तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी ललकार भी तलवार थी, जिसके सामने घूमा हुआ हथियार भी लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता था।

तिष्यरक्षिता : महाराज, इतना रक्तपात……

अशोक : मैंने अपनी सेना का अर्ध-व्यूह बनाकर आक्रमण किया था। शत्रु सोचते थे, जैसे सहस्रों धूमकेतु एक विशेष आकार में कसे हुए मौत की आग लेकर आ रहे हैं। न जाने कितने शत्रु हाथियों के पैरों से पिस गये—सैकड़ों घोड़ों के पैरों में उलझकर खून से लथ-पथ हो गये। मालूम होता था—रक्त का नाला महानदी में मिलने के लिए जा रहा है।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! इतना भयानक युद्ध !

अशोक : मुझ पर भी एक वीर ने तलवार चलाई। मैंने तक्षक की तरह अपना सिर बचा लिया। उसकी तलवार वायु-मंडल में शून्य चक्र बना कर रह गई। अपने निष्फल हुए आक्रमण के वेग से वह मुड़ गया। उसके मुड़ते ही मैंने तलवार की नोक उसकी पसलियों में घुसेड़ दी। उसकी ललकार आह में बदल कर खून में डूब गई। वह टूटे हुए पेड़ की तरह भूमि पर गिर पड़ा।

तिष्यरक्षिता : महाराज आपका युद्ध-कौशल भयानक है।

अशोक : फिर मैं मरे हुए घोड़े की पीठ से पैर टेक कर लड़ता रहा। शत्रुओं के नायक वीरभद्र की तलवार जैसे ही आगे गिरने के लिए अर्धचन्द्र बना रही थी वैसे ही मैंने झुक कर कक्ष भाग से

कंधे पर ऐसा वार किया कि अपने वेग में, भुजा समेत उड़ कर उसकी तलवार एक हाथी की पीठ में घुस गई। हाथी शत्रु-पक्ष को कुचलता हुआ भाग खड़ा हुआ। उसी समय सेना के पैर उखड़ गये और आज की विजय ने, देवि। तुम्हारे गले में माला पहना दी।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! बहुत भयानक युद्ध है ! अब सहन नहीं हो सकता।

अशोक : देवि ! तुम बड़ी कोमल-हृदया हो। युद्ध तुम्हारे लिए नहीं है। इसीलिए मैं चाहता था कि तुम पाटलीपुत्र में रहो। किन्तु तुम्हारा ही अनुरोध मुझे विवश कर सका कि तुम्हें साथ ले आया।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! यदि मैं एक अनुरोध और करूँ ?

अशोक : क्या ?

तिष्यरक्षिता : यह युद्ध रोक दीजिये ?

अशोक : यह क्या कह रही हो, देवि ? युद्ध का रुक जाना पाटलीपुत्र की उन्नति का रुक जाना है। किसी भी साम्राज्य की सीमा तलवार से खींची जाती है और सीमा को स्थायी रखने के लिए उस रेखा में रक्त का रंग भरा जाता है। [कक्ष में दृष्टि डालते हैं। चित्र-फलक पर दृष्टि डाल कर] अच्छा; यह तुमने बड़ा सुन्दर चित्र बनाया है ?

तिष्यरक्षिता : हाँ, महाराज ! आपको पसन्द है !

अशोक : बहुत ही सुन्दर है। यह तो उस कुंज का है, जहाँ बैठ कर मैंने युद्ध का कार्य-क्रम बनाया था।

तिष्यरक्षिता : हाँ, महाराज ! मैं भी साथ थी।

अशोक : तो ये वृक्ष टूटे हुए क्यों दिखाये गये हैं ?

तिष्यरक्षिता : महाराज ! युद्ध की गति में आपकी तलवार शत्रुओं पर पड़ने के साथ ही इन वृक्षों पर भी पड़ी है। वे बेचारे भी कट गये हैं और उनसे रक्त निकल रहा है !

अशोक : तो रक्त के स्थान पर लाल रंग की क्या आवश्यकता ? सच्चा रक्त भरो इनमें। वह तो बहुत मिल सकता है। मैंने कितने रक्त-प्रवाह की शारीरिक सीमाएँ नष्ट कर उन्हें पृथ्वी पर बहने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। वहीं से रक्त लो !

तिष्यरक्षिता : महाराज ! मेरा हृदय काँप रहा है—इस युद्ध की भयानकता से ! आप क्यों इतने वीरों के रक्त से राज्य-श्री को अग्नि का रूप देना चाहते हैं ?

अशोक : देवि ! अग्नि में तप कर ही स्वर्ण पवित्र होता है। आज मेरी तलवार में शक्ति है। उसका अधिक से अधिक उपयोग होने दो।

तिष्यरक्षिता : जैसी महाराज की इच्छा ! लेकिन मुझे बहुत दुःख है इस क्रूरता पर [सिर झुका लेती है।]

अशोक : [मनाते हुए] तुम दुखी हो, देवि ? नहीं दुखी होने की क्या बात ? तुम तो दया की देवी हो। तुम्हें तो किसी के दुःख से भी दुःख होने लगता है। मैं यथा-शक्ति तुम्हारे सद्भावों की रक्षा तो करता हूँ। देखो देवि ! आज तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दन्ड के कृपाण को अच्छा रोका···

तिष्यरक्षिता : महाराज ! चारु निरपराध थी।

अशोक : रण-भूमि की दृष्टि से या रंग-भूमि की दृष्टि से ?

तिष्यरक्षिता : महाराज ! वह सेविका है, आपके चरणों की छाया में ही बड़ी हुई है।

अशोक : किन्तु आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर काटने-छाँटने की आवश्यकता होगी। देवि, मैं अपने शिविर में शत्रु-पक्ष के किसी व्यक्ति को अब रहने की आज्ञा नहीं दे सकता।

तिष्यरक्षिता : किन्तु अब वह शत्रु-पक्ष की कहाँ है ? महाराज ! वह तो उस समय से आपकी सेविका है, जब कलिंग-युद्ध छिड़ा भी नहीं था।

अशोक : किन्तु कृपा की दृष्टि राजनीति की दृष्टि नहीं होती, देवि ! आज युद्ध से लौटते समय मैंने चारु के सम्बन्ध में विचार किया था।

तिष्यरक्षिता : युद्ध से लौटते समय !

अशोक : हाँ, युद्ध से लौटते समय कलिंग के कुछ व्यक्ति मुझे प्रणाम कर रहे थे, मुझे उनके प्रणाम में चारु का प्रणाम भी दीख पड़ा। यदि इस समय चारु नृत्य न भी करती तो भी मैं उसे दन्डित तो करता ही।

तिष्यरक्षिता : किन्तु वह बेचारी !

अशोक : राजनीति तिष्यरक्षिता नहीं है देवि ! जो दया से तरल हो जाय। किन्तु आज तुम्हारे कहने से मैंने राजनीति को स्त्री का हृदय बना दिया।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! आपकी कृपा। विश्राम कीजिये।

अशोक : देवि ! मुझे विश्राम ! पितामह चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष के शासन में कितना विश्राम किया ? तक्षशिला से मगध तक पृथ्वी का प्रत्येक कण उनकी आहट सुन कर काँपता था। बहुत से छोटे-छोटे राज्यों को एक संघ में गूँथ कर उन्होंने अपनी राज्य-श्री को विजय-माला पहनाई थी। सेल्यूकस निकेटर से गांधार और सीमाप्रांत लेकर आर्यावर्त के मुकुट में उन्होंने कुछ रत्न और जड़ दिये थे। मैं उन्हीं की सन्तान हूँ, देवि ! विश्राम के लम्बे क्षणों में राज्य-सीमा संकुचित हो जाती है।

तिष्यरक्षिता : ठीक है, महाराज ! पर कलिंग-युद्ध ने आपको बहुत उत्तेजित कर दिया है !

अशोक : कलिंग अपने को सम्राट् मानता है। वह पाटली-पुत्र का आधिपत्य नहीं मानता। सुमात्रा और जावा में उसने अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं। जल-यानों में विहार करता है और समझता है कि वह आर्यावर्त का सम्राट् है। तिष्या ! वह मेरे

शासन के मार्ग को एक स्तूप बनकर रोकना चाहता है। मैं आचार्य उपगुप्त के उपदेशों की भाँति उसे भी ठोकर मार देना चाहता हूँ।

तिष्यरक्षिता : महाराज! आचार्य उपगुप्त में और कलिंग में समानता नहीं हो सकती।

अशोक : क्यों नहीं? आचार्य उपगुप्त बौद्ध धर्म के सबसे बड़े आचार्य हैं, कलिंग विद्रोहियों का सबसे बड़ा नेता है। मैं बौद्ध धर्म और कलिंग दोनों का नाश करूँगा।

तिष्यरक्षिता : क्षमा, दया, करुणा, महाराज! आचार्य उपगुप्त कल यहाँ आये थे। उन्होंने कलिंग के भीषण रक्तपात को देख कर कहा था कि बुद्धि का अक्षय कोष मनुष्य, थोड़ी-सी भूमि के लिए मनुष्यत्व को मिट्टी में मिला देना चाहता है। कलिंग के सम्बन्ध में कहा था कि अहंकार का फल यही हुआ है और होगा।

अशोक : यह व्यंग्य मुझ पर किया गया, देवि!

तिष्यरक्षिता : महाराज! उनके कथन में सत्य है। क्या अहंकार का नाश नहीं

अशोक : अहंकार और राज्य-धर्म में अन्तर है। राज्य-धर्म पाटलीपुत्र का अधिकार है और अहंकार कलिंग की वृत्ति है। उसे अपनी सेना का अहंकार है। उसके पास साठ हजार पैदल, सात सौ हाथी और एक हजार घुड़सवार हैं। समझता है कि वह इन्द्र का वंशज है। मैं अपनी सेना के हाथों उसके अहंकार के पौधे को उखाड़ फेकूँगा, तिष्या!

तिष्यरक्षिता : कितनों का रक्त बहेगा, महाराज!

१२

अशोक : उसमें आर्यावर्त को नहला कर पवित्र करना चाहता हूँ, देवि !

[नेपथ्य में भयानक तुमुल ! किसी स्त्री का क्रन्दन-स्वर— 'अशोक का नाश हो'···'अशोक का सर्वनाश हो !!' प्रहरी का स्वर—'पुष्य मार डालो इसे भी ।']

तिष्यरक्षिता : [कान बन्द कर क्रन्दन स्वर में] नहीं महाराज ! [अशोक के वक्षस्थल में छिप जाती है । अशोक जोर से आवाज देते हैं] नहीं [फिर तिष्य की पीठ पर हाथ फेर कर] शान्त हो ! शान्त हो— मैं अभी देखता हूँ । [अशोक तिष्य को सँभाल कर आसन पर बिठलाते हैं, फिर शिविर की खिड़की से देखते हुए] पुष्य ! इस स्त्री को मेरे शिविर में भेजो ।

[तिष्य अपने हाथों से नेत्र बन्द किये हुए है । अशोक तिष्य के हाथों को आँखों से हटा अपने हाथों में लेते हैं ।]

अशोक : देवि ! मैं अभी देखता हूँ, कौन है ?

तिष्यरक्षिता : महाराज ! मैं आपका अमंगल नहीं सुन सकती । [आकाश की ओर देखते हुए] महाराज का मंगल हो, महाराज का मंगल हो ! महाराज का मंगल हो !

अशोक : कोई स्त्री है; गोद में एक बच्चे को लिये हुए है ।

तिष्यरक्षिता : मैं पूछूँगी, वह कौन है—क्यों ऐसी अशुभ बात मुँह से निकालती है ?

अशोक : अवश्य तुम्हीं पूछो । मैं वस्त्र बदलने जाता हूँ !

[जाते हैं]

[प्रहरी एक स्त्री को लेकर आता है तिष्य के संकेत से प्रहरी हट जाता है । वह स्त्री लगभग २५ वर्ष की होगी । उसके बाल और वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं । वह अपने बच्चे को गोद में लिये है । उसकी मुद्रा पागल स्त्री की तरह है ।]

तिष्यरक्षिता : आओ, आओ, देवि ! तुम कौन हो ?

स्त्री : [विस्फारित नेत्रों से एक बार ही फूटकर] ओह, रानी ! अशोक का सर्वनाश हो…! अशोक का सर्वनाश हो !…मुझे भी मार डालो ! मुझे भी मार डालो !

तिष्यरक्षिता : ठहरो-ठहरो, तुम महाराज के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकतीं। चुप रहो, क्या चाहती हो ?

स्त्री : मैं क्या चाहती हूँ ? मेरे बच्चे के टुकड़े-टुकड़े कर डालो ! यह अभी मरा नहीं है ! [पुत्र की ओर देख कर] लाल ! अभी तुम मरे नहीं हो । ये लोग तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे, तब तुम मरोगे । तब तक कुछ बोलो—बोलो मेरे लाल ! [अपने बच्चे को हाथों ही में झकझोरती है ।]

[अशोक का प्रवेश । वे दूर चुपचाप इस तरह खड़े हो जाते हैं कि तिष्य के पीछे हैं और तिष्य की दृष्टि उन पर नहीं पड़ती । माता अपने बच्चे को देख कर] तेरा खून इतना मीठा है, मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है ? और खून हो तो अपने नन्हें से कलेजे को सामने रख दे । ये सब मिलकर पी लें !

तिष्यरक्षिता : क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ! कैसे ?

स्त्री : अशोक राक्षस ले गया, मेरे बच्चे को ! राज्य नहीं चाहता था मेरा लाल, लेकिन मेरे लाल को अशोक ले गया ! इसे—

अशोक : [आगे बढ़कर] यह क्या कह रही हो, तुम ? ठीक तरह से बतलाओ । तुम्हारा न्याय होगा । यह बच्चा कैसे मरा ?

स्त्री : मुझे न्याय नहीं चाहिए—नहीं चाहिए ! पाटलीपुत्र से न्याय उठ गया ! इसके पिता को सैनिकों ने घेर कर मारा और जब मैं इसे बचाने लगी तो इसके फूल-से कलेजे में भाला घुसेड़ दिया उन राक्षसों ने । मेरे बच्चे को राज्य नहीं चाहिए था ! मेरा छोटा

राजा तुम्हारा राज्य नहीं चाहता था। तब भी इसे—तब भी इसे……

अशोक : ठहरो, मैं उन दुष्टों को दंड दूंगा। वीरों के लिए उनका भाला है, शिशुओं के लिए नहीं।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! न्याय होना चाहिए बेचारी स्त्री का !

अशोक : होगा और अवश्य होगा।

स्त्री : मैं अब न्याय लेकर क्या करूँगी ! लाओ, महाराज ! मैं तुम्हें राजतिलक कर दूं। अपने बच्चे के रक्त का तिलक लगाकर— [चिल्ला कर] महाराज अशोक…चक्रवर्ती अशोक…!

अशोक : मैं अभी न्याय करूँगा। [पुकारते हुए] पुष्य…

[प्रहरी का प्रवेश]

अशोक : इस स्त्री को विश्राम-शिविरों में ले जा कर अपराधियों की पहचान कराओ, मैं अभी आता हूँ। जाओ…

[जाने को उद्यत होता है।]

अशोक : और उन अपराधियों को वन्दी कर मेरे सामने उपस्थित करना। समझे ?

प्रहरी : जो आज्ञा। [स्त्री से] चलो। [स्त्री को बलपूर्वक ले जाता है]

स्त्री : [जाते हुए, नेपथ्य में] मेरा बच्चा ! मेरा लाल ! [धीरे-धीरे शब्द क्षीण हो जाता है। कुछ देर तक स्तब्धता रहती है। अशोक विचारमग्न हैं, तिष्य कहती है :]

तिष्यरक्षिता : महाराज; मूर्छा-सी आ रही है।

अशोक : देवि विश्राम करो। मैं अभी न्याय करूँगा !

तिष्यरक्षिता : महाराज ! यह रक्त-पात अब बन्द हो !

अशोक : एक छोटी-सी घटना राज्य की बढ़ती हुई बेल को काट दे ! यह घटना तुम्हारा चित्र नहीं है देवि, जिसमें तूलिका के एक हल्के

झटके से राज्य की बेल कट जाय! देवि ! युद्ध में तो यह सब होता ही है ।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! मैं क्या करूँ ?

अशोक : विश्राम करो । मैं विश्राम-शिविरों में अभी जाता हूँ । सेना के विश्राम की क्या व्यवस्था है, घायलों की क्या सुश्रूषा हो रही है, यह मुझे देखना है । [पुकार कर] राजुक ! [राजुक का प्रवेश]

अशोक : महामात्रों से कहो कि अश्व तैयार हों । उन्हें मेरे साथ सैन-निरीक्षण के लिए चलना होगा ।

राजुक : जो आज्ञा, महाराज ! [जाता है]

अशोक : देवि ! महाराज बिन्दुसार ने राज्य की सीमा नहीं बढ़ाई । वे कदाचित् यह उत्तरदायित्व मेरे लिए छोड़ गये हैं । सम्राट् चन्द्रगुप्त के परिश्रम की परम्परा कुछ वर्षों तक तो चले !

तिष्यरक्षिता : कब तक महाराज ?

अशोक : जब तक कि पाटलिपुत्र का प्रवासी नागरिक कलिंग के जनपद में निवासी होकर न रहने लगे ।

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : महाराज ! महामात्र और अश्व तैयार हैं !

अशोक : अच्छा, जाओ, मैं अभी आता हूँ । [तिष्य से] देवि ! आज उस स्त्री का न्याय भी करूँगा और निरीक्षण भी । सैनिकों के पुरस्कार और दंड की व्यवस्था एक साथ ही होगी । देवि ! मंगल-कामना करो कि मगध चिरंजीवी हो ।

तिष्यरक्षिता : महाराज ! मेरे दुःख में भी मगध चिरंजीवी हो ।

[अशोक का प्रस्थान]

तिष्यरक्षिता : वायु के प्रवाह की भाँति सदैव अस्थिर ! अभी आये और अभी

चले गये ! मैं क्या करूँ ! [चित्र की ओर दृष्टि डालती है।]
यह चित्र ! [क्रोध से फाड़ कर फेंक देती है। पुकार कर]
स्वयंप्रभा ! [स्वयंप्रभा का प्रवेश वह प्रणाम करती है।]

स्वयंप्रभा : महारानी ! यह क्या ? यह चित्र किसने फाड़ दिया ? ओह...
इतना सुन्दर चित्र !

तिष्यरक्षिता : मैंने—मैंने इसे नष्ट कर दिया।

स्वयंप्रभा : मैं इसे, जोड़ सकती हूँ ?

तिष्यरक्षिता : नहीं। इसे उठा कर फेंक दे।

[स्वयंप्रभा फटे हुए चित्र के टुकड़े एकत्र करती है।]

तिष्यरक्षिता : स्वयंप्रभा ! महाराज गये ?

स्वयंप्रभा : जी, महारानी ! पाँच महामात्रों के साथ अभी-अभी गये है।

तिष्यरक्षिता : चले गये ! तू क्या कर रही थी ?

स्वयंप्रभा : महारानी ! आपके सुन्दर गीतों की स्वर-लिपि लिख रही थी।
बड़े सुन्दर गीत हैं।

तिष्यरक्षिता : उसको नष्ट कर दे। महाराज यह सब कुछ नहीं चाहते। इस
विषय में बात मत कर, जा।

[स्वयंप्रभा जाना चाहती है।]

तिष्यरक्षिता : चारु कहाँ है ?

स्वयंप्रभा : महारानी ! अभी तो यहीं थी। कदाचित् शिविर-कक्ष में हो।

तिष्यरक्षिता : रो रही थी ?

स्वयंप्रभा : महारानी, उदास तो बहुत थी। ज्ञात होता था कि उसके आंसू
सूख गये हैं, किन्तु हृदय रो रहा है।

तिष्यरक्षिता : तूने उससे बातें कीं ?

स्वयंप्रभा : महारानी ! आपके गीतों की स्वर-लिपि पूछी, वह कुछ भी नहीं
कह सकी।

तिष्यरक्षिता : बेचारी चारु ! आज चारु पर महाराज बहुत अप्रसन्न हुए ।

स्वयंप्रभा : महारानी ! उससे कभी कोई अपराध तो हुआ नहीं ।

तिष्यरक्षिता : कहते थे कि वह कलिंग की है, शत्रु-पक्ष की ।

स्वयंप्रभा : महारानी ! आज तक महाराज की सेवा उसने जितनी श्रद्धा और भक्ति से की है, उतनी पाटलीपुत्र की किसी सेविका ने नहीं । वह तो महाराज के अंतःपुर की अंगरक्षिका है ।

तिष्यरक्षिता : हाँ, मैं भी यही समझती हूँ ।

स्वयंप्रभा : महारानी, महाराज की इच्छा ही उसके कार्य का नाम है । वह कैसे विश्वासघातिनी हो सकती है ?

तिष्यरक्षिता : कहते थे, राजनीति की दृष्टि दया की दृष्टि नहीं है ।

स्वयंप्रभा : महारानी ! राजनीति भी कोई राजनीति है यदि उससे सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम में संदेह उत्पन्न हो जाय ?

तिष्यरक्षिता : यही संदेह तो शायद उनके जीवन की सफलता है । उन्होंने शत्रु के छोटे-से-छोटे कार्य को अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न कर दिया है । आज मेरी प्रार्थना पर ही उन्होंने चारु को क्षमा किया ।

स्वयंप्रभा : महारानी ! आपकी करुणा ने महाराज की शक्ति के साथ रहकर राज्य को संतुलित किया है !

तिष्यरक्षिता : स्वयंप्रभा ! आज मेरी करुणा सीमा तक पहुँच गई !

स्वयंप्रभा : कैसे, महारानी ?

तिष्यरक्षिता : एक स्त्री के छोटे-से-बच्चे को सैनिकों ने मार डाला ।

स्वयंप्रभा : हाँ, महारानी ! मैंने भी सुना ।

तिष्यरक्षिता : महाराज न्याय करने गये हैं । देखें, क्या न्याय करते हैं । मैं तो आज बहुत अशान्त हूँ ।

स्वयंप्रभा : महारानी ! विश्राम कीजिए...

[नेपथ्य में—'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि']

स्वयंप्रभा : आचार्य उपगुप्त का कंठ-स्वर है; महारानी !

तिष्यरक्षिता : [स्वस्थ होकर] जाकर उन्हें यहाँ ले आ। मैं बहुत विह्वल हो रही हूँ।

स्वयंप्रभा : जो आज्ञा, महारानी ! [स्वयंप्रभा जाती है।]

तिष्यरक्षिता : [अपने-आप मंद कंठ स्वर से] महात्मा उपगुप्त···

[सम्हल कर उठती है और स्वयं आसन ठीक करती है। प्रतीक्षा-दृष्टि से द्वार की ओर देखती है। स्वयंप्रभा के साथ महात्मा उपगुप्त का प्रवेश। महात्मा उपगुप्त बौद्ध भिक्षु के वेश में हैं। पीत वस्त्र धारण किए हुए। हाथ में भिक्षा-पात्र।]

तिष्यरक्षिता : प्रणाम करती हूँ, भंते !

उपगुप्त : [अभय-हात] सुखी रहो, देवि ! क्या महाराज नहीं हैं ?

तिष्यरक्षिता : भंते ! वीर पुरुष घर नहीं रहते। रणक्षेत्र ही उनका घर है।

उपगुप्त : देवि ! रक्षक्षेत्र हृदय को शांति नहीं दे सकता। तथागत ने कहा है—'अहंकार और ईषणा का नाश करो'। यह युद्ध अधिकार-लिप्सा है, इसका अन्त नहीं है, देवि !

तिष्यरक्षिता : महात्मन् ! आपका उपदेश महाराज के कानों तक पहुँचा ?

उपगुप्त : देवि ! महाराज नीति-कुशल हैं। मेरी बातें सुनते हैं। मुस्कराकर कहते हैं—आप थक गये होंगे, भंते, विश्राम-गृह आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।

तिष्यरक्षिता : महात्मन् ! यह युद्ध बन्द होना चाहिये। मैं इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकती हूँ।

उपगुप्त : देवि ! इस अर्त्याचार को कौन सहन कर सकता है ? एक लाख आदमी तो रणक्षेत्र में मर गये। तीन लाख घायल हुए, जो एक

लाख के पथ का अनुसरण करना चाहते हैं। देवि ! रक्त की नदियाँ वह निकलीं हैं, जो महानदी की समानता करने को अग्रसर हैं। कलिंग राज्य के घर फूल की पँखुड़ियों की तरह गिर रहे है ! देवि ! तुम कुछ नहीं कर सकतीं ?

तिष्यरक्षिता : महात्मन्, आज मैं रानी न होकर एक साधारण स्त्री होती तो किसी प्रकार आत्म-बलिदान कर महाराज के मन की दिशा बदल देती। पत्नी होकर पति के मार्ग की बाधिका बनने का साहस मुझमें नहीं होता। राज-वंश की मर्यादा कैसे नष्ट करूँ ? महात्मन् ! मैं रानी होकर साधारण स्त्री भी नहीं रही !

उपगुप्त : तो कहता हूँ देवि ! शांत होओ। जब तक मनुष्य आर्य-सत्य से परिचित नहीं होता, उसे दुःख उठाना ही पड़ता है। तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ ! मैं सब बन्धनों से—लौकिक और अलौकिक मुक्त हो गया। अनेक के लाभ के लिए विचरण करो, अनेक के हित के लिए विचरण करो, संसार के प्रति करुणा के लिए विचरण करो। देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरण करो।" देवि ! मुझे विश्वास है, महाराज अशोक इस धर्म-शिक्षा को मान कर संसार का कल्याण करेंगे।

तिष्यरक्षिता : भंते ! मुझे विश्वास नहीं होता।

उपगुप्त : समय की प्रतीक्षा करो। महाराज में परिवर्तन होगा। जब किसी व्यक्ति में शक्ति की क्षमता होती है तो बुरे मार्ग से अच्छे पर और अच्छे मार्ग से बुरे मार्ग पर जाने में विलंब नहीं लगता। महाराज में शक्ति की क्षमता है और वे बुरे मार्ग पर हैं। किसी भयानक भावना से उनके हृदय की दिशा-परिवर्तन सम्भव है। वे विजय के आकांक्षी हैं। विजय प्राप्त करें किन्तु हिंसा से नहीं, अहिंसा से। वे शासन करना चाहते हैं, करें किन्तु क्रोध से नहीं,

करुणा से। विनाश करें, किन्तु जाति का नहीं, अपनी तृष्णा का। वे ज्ञान-प्राप्ति में प्रयत्नशील हों, राज्य-प्राप्ति में नहीं। ज्ञान अमर है, राज्य क्षण-भंगुर हैं !

तिष्यरक्षिता : महाभिक्षु, आपका ज्ञान सुनकर हृदय को शान्ति मिलती है।

उपगुप्त : शांति लाभ करो देवि, यही पथ निर्वाण का है। अच्छा देवि, अब मैं जाऊँगा [उठ खड़े होते हैं।]

तिष्यरक्षिता : महात्मन्, आशीर्वाद दीजिये कि राज्य में शांति हो।

उपगुप्त : ऐसा ही हो !

तिष्यरक्षिता : महात्मन्, भिक्षा स्वीकार कीजिए। मैं अपने हाथ से लाऊँगी।

[तिष्य भीतर जाती है]

स्वयंप्रभा : महात्मन्, आप से एक प्रार्थना करना चाहती हूँ।

उपगुप्त : कैसी ?

स्वयंप्रभा : महात्मन्, आप चारु को जानते हैं !

उपगुप्त : हाँ, हाँ, महाराज की सेवा में सतत रहने वाली।

स्वयंप्रभा : आज वह बहुत दुखी है।

उपगुप्त : क्यों ?

स्वयंप्रभा : महाराज का उस पर से विश्वास उठ गया है !

उपगुप्त : इसलिए कि वह कलिंग-बालिका है ?

स्वयंप्रभा : जी हाँ।

उपगुप्त : तो उसके लिए उचित तो यही है कि वह महाराज की सेवा और संलग्नता के साथ करे। संदेह को सेवा से नष्ट कर दे। वह इस समय कहां होगी ?

स्वयंप्रभा महाराज के बाहरी शिविर में।

उपगुप्त अच्छा, मैं उससे मिलता जाऊँगा। उसे सतोष और शांति देकर फिर संघाराम जाऊँगा।

स्वयंप्रभा : भंते, बड़ी कृपा होगी आपकी।

उपगुप्त : यह तो तथागत की आज्ञा है।

[तिष्य भिक्षा लेकर आती हैं]

तिष्यरक्षिता : मुझे अपने हाथों से आपकी सेवा में मधुकरी लाने में विशेष हर्ष होता है भंते !

उपगुप्त : तुम सुखी रहो देवि।

[तिष्य उपगुप्त को मधुकरी देती है]

उपगुप्त : अच्छा अब जाऊँगा।

तिष्यरक्षिता : महात्मन् ! प्रणाम।

उपगुप्त : सुखी रहो।

तिष्यरक्षिता : स्वयं, महाभिक्षु को शिविर-द्वार तक पहुँचा दो।

[स्वयंप्रभा का उपगुप्त के साथ]

तिष्यरक्षिता : [सोचते हुए] तिष्य, तेरी दशा एक कीड़े की तरह है, जो ऐसी लकड़ी में रहता है जिसके दोनों ओर आग लग रही है। तू कहाँ रहेगी ?

[स्वयंप्रभा का प्रवेश]

स्वयंप्रभा : महारानी, भंते जाते समय आपके लिए स्वस्ति-वचन कह गये हैं।

तिष्यरक्षिता : तथागत को प्रणाम। स्वयंप्रभा या तो मैं संघाराम चली जाऊँगी या वनवासिनी हो जाऊँगी।

स्वयंप्रभा : महारानी, आप शांत हों।

तिष्यरक्षिता : नहीं स्वयंप्रभा, अब मुझे इस राज्यश्री से घृणा हो रही है। उसके सजाने के लिये कितने मनुष्यों की बलि देनी पड़ रही है। रात-दिन युद्ध की बात सुनते-सुनते जैसे मेरी श्रवण-शक्ति विद्रोह कर रही है। अब मैं और कुछ सुनना नहीं चाहती। देख, कितनी अच्छी वन-श्री है। यहाँ के पेड़ और पर्वत कैसे सुख में दीख पड़

रहे हैं। ये तो किसी से लड़ने नहीं जाते, किसी का खून नहीं बहाते, लेकिन रात-दिन बन पर हरियाली छाई रहती है, फूल खिलते रहते हैं। निर्झर वन के चरणों को धोते रहते हैं। इन्हें किस बात की कमी है ? यह मनुष्य ही रात-दिन न जाने किसके लिए दूसरे का सुख नष्ट करने में जुटा रहता है, खून की नदियाँ बहाता है ?

स्वयंप्रभा : महारानी, जीवन का सत्य यही है।

तिष्यरक्षिता : और स्वयंप्रभा, अगर मैं स्त्री न होकर इसी पास के पेड़ की एक कली होती, तो आनन्द के साथ वसंत के किसी प्रातःकाल खिल-कर सारे संसार को एक बार हँसती हुई आँखों से देख लेती और शाम होने पर सूर्य के पीछे-पीछे मैं चली जाती। स्त्री और महारानी होकर मैं सुखी नहीं हूँ स्वयंप्रभा ! जीवन के सत्य से बहुत दूर जो जा पड़ी हूँ।

स्वयंप्रभा : महारानी, आपका हृदय शान्त हो।

तिष्यरक्षिता : स्वयंप्रभा ! कैसे शांत हो ? शांति का उपाय करने के बदले मैं अशांति की लहरों में बही जा रही हूँ। पात में कोई कूल-किनारा नहीं है। मालूम होता है, युद्ध की समाप्ति होते-होते मेरा जीवन भी समाप्त हो जायगा।

स्वयंप्रभा : महारानी, दुखी न हों, ऐसी बातें न करें !

तिष्यरक्षिता : मैं महाराज के सामने बहुत साहस कर कुछ बातें कहना चाहती हूँ। या तो मैं कह नहीं सकती या महाराज की दृष्टि मुझे कहने नहीं देती। साहस कर दो-एक शब्दों में यदि कुछ कहती भी हूँ; तो महाराज की वीरता की लहर में मेरे शब्द बुद्बुद की भाँति बह जाते हैं।

स्वयंप्रभा : महारानीजी, आप जो कुछ भी कह सकती हैं, महाराज के सामने उतना कहने की शक्ति संसार के किसी भी व्यक्ति में नहीं है।

तिष्यरक्षिता : किन्तु उसका परिणाम कुछ नहीं स्वयंप्रभा, चारु को बुलायेगी।

[नेपथ्य में—महाराज अशोक की जय ! जय !]

तिष्यरक्षिता : स्वयंप्रभा, रहने दे, किसी को मत बुला। महाराज आ रहे हैं।

[चिंतित मुद्रा में अशोक का प्रवेश। तिष्य प्रणाम करती है। स्वयंप्रभा अधिक झुककर प्रणाम करती है।]

अशोक : देवी, न्याय नहीं हो सका !

तिष्यरक्षिता : महाराज, उस स्त्री का न्याय ?

अशोक : हाँ देवी, वह स्त्री उसी शिविर में आत्म-हत्या करके मर गई।

तिष्यरक्षिता : मर गई ! [करुण स्वर में] आह, बेचारी स्त्री !

अशोक : मैंने पुष्य को आज्ञा दी थी कि वह उस स्त्री को विश्राम-शिविर में ले जाकर खड़ी कर दे। शिविर का प्रत्येक सैनिक उसके सामने आये और वह स्त्री उस सैनिक को पहचाने, जिसने उसके शिशु की छाती में भाला घुसेड़ दिया था। मुझे ज्ञात हुआ कि १२३ सैनिक घरों में घुसे थे। उन्हीं १२३ सैनिकों के भाग्य का निर्णय था, किन्तु उस स्त्री ने १७ सैनिकों के आने पर एक बार अपने बच्चे को चूमा, हृदय से चिपटा लिया और अट्ठारहवें सैनिक की कमर से छुरी निकाल कर स्वयं आत्म-हत्या कर ली। पुष्य उसे रोक नहीं सका और वह खून की नदी में तड़पने लगी। देवि, उसने मेरे न्याय पर विश्वास नहीं किया। उसने मेरी राज्य-सत्ता से बढ़कर अपने बच्चे को समझा।

तिष्यरक्षिता : महाराज, माता का हृदय संसार के किसी वैभव से नहीं तुल सकता। वह सबसे बड़ा है।

अशोक : किन्तु माता के हृदय में विशालता भी तो होती है।

तिष्यरक्षिता : पहले वह अपने बच्चे के लिए होती है महाराज ! आप अनुमान कर लीजिये कि इस युद्ध में जितने वीरों की मृत्यु हुई है, उनकी माताओं के हृदय की क्या दशा होगी ?

अशोक : मैं देख रहा हूँ देवि ! आज एक बच्चे की माँ ने मेरे सारे साम्राज्य को तुच्छ सिद्ध कर दिया !

तिष्यरक्षिता : महाराज आर्यावर्त्त के सबसे बड़े वीर हैं।

अशोक : देवि, आज विश्राम-शिविर में जाने पर ज्ञात हुआ कि एक लाख से अधिक सैनिक अभी तक युद्ध में मारे जा चुके हैं; जिनमें बहुत अधिक संख्या कलिंग के सैनिकों की है, तीन लाख सैनिक घायल हुए हैं। उनकी माताओं के हृदय की क्या अवस्था होगी ?

तिष्यरक्षिता : [आश्चर्य और दुःख में] महाराज, चार लाख वीर संग्राम की बलि हुए हैं।

अशोक : जब कलिंग-नरेश को ज्ञात हुआ कि चार लाख वीर संग्राम-भूमि की बलि हुए हैं, तब उसने यह संधि-पत्र भेजा है। [संधि-पत्र खोलते हुए] आज पाटलिपुत्र की विजय हुई, किन्तु देवी, उस स्त्री की आत्म-हत्या ने मेरा ध्यान संग्राम में मरे हुए वीरों की माताओं की ओर आकर्षित कर लिया है और मेरी विजय में जैसे उल्लास के बदले अभिशाप तड़प रहा है।

[बाहर कोलाहल होता है। "चारु", "चारु", "क्या हुआ", "अभी प्राण शेष है", कहाँ चोट लगी है", "यह कैसे हुआ", "शांत-शांत" की आवाजें आती हैं।]

अशोक : [चौंककर] यह कैसा शब्द ? राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

राजुक : महाराज, चारुमित्रा का मृत शरीर बाहर है।

अशोक : [पुनः चौंककर] चारुमित्रा का मृत शरीर ?

तिष्यरक्षिता : आह चारु—[सिर झुकाकर बैठ जाती है ।]

राजुक : जी हाँ, उन्हें तलवार का गहरा घाव लगा है। आचार्य उपगुप्त उनके साथ हैं।

अशोक : शीघ्र भीतर लाओ।

[चारुमित्रा का शरीर लेकर दो प्रहरी आते हैं, साथ में उपगुप्त भी हैं]

अशोक : महाभिक्षु को अशोक का प्रणाम ! महात्मन् यह क्या ? [प्रहरियों से] यह शरीर नीचे रख दो ! आह, चारुमित्रा ! [प्रहरी शरीर रख देते हैं]

तिष्यरक्षिता : ओह मेरी चारु ! मेरी चारु !!

उपगुप्त : देवी शान्त हों। महाराज, यह चारुमित्रा की स्वामिभक्ति का प्रमाण है !

अशोक : स्वामिभक्ति ! कैसी स्वामिभक्ति ? अभी जीवित है चारु ?

उपगुप्त : महाराज, अभी जीवित तो है, पर वह अचेतावस्था में है।

तिष्यरक्षिता : भंते, क्या हुआ ?

उपगुप्त : देवी, शांत हों ! चारुमित्रा ने आज संसार के सामने यह घोषित कर दिया कि एक नारी में कितनी शक्ति है, कितनी क्षमता है !

अशोक : किस प्रकार भंते ?

उपगुप्त : मैंने सुना था, आपने चारुमित्रा पर अविश्वास किया था !

अशोक : हाँ, वह कलिंग की अधिवासिनी थी। अविश्वास होना स्वाभाविक था।

उपगुप्त : किन्तु महाराज, उसने बाल्यावस्था से आपकी सेवा की थी और आज उस सेवा से उसने अपने कलिंग को अमर बना दिया।

अशोक : मैं उत्सुक हूँ भंते, चारु के सम्बन्ध में सुनने के लिए।

उपगुप्त : महाराह ! आर्यावर्त्त जानता है कि आपने रक्त की नदी बहाकर कलिंग-युद्ध में कितने वीरों को रणक्षेत्र में सुला दिया है। आपने

रक्त की नदी से कलिंग की भूमि को लाल बना दिया है और अब आपकी विजय निश्चित है।

अशोक : मैंने विजय प्राप्त कर ली महाभिक्षु, यह संधिपत्र है।

उपगुप्त : महाराज, इस संधिपत्र से अधिक मूल्यवान चारु का बलिदान है।

अशोक : [आश्चर्य से] बलिदान !

तिष्यरक्षिता : मेरी चारु ने अपना बलिदान कर दिया !

उपगुप्त : हाँ, महारानी ! महाराज के अविश्वास से उसे हार्दिक दुःख हुआ था। आज वह महाराज के बाहरी शिविर में महाराज से आज्ञा लेकर चली जाती और महानदी की लहरों में विश्राम करती, किन्तु उसके पूर्व ही उसे विश्राम करने का अवसर मिल गया।

अशोक : किस प्रकार ? शीघ्र बतलाइये।

उपगुप्त : महाराज ! यदि चारुमित्रा के चरित्र-गान में कुछ विलम्ब लग जाय, तो आप धैर्य रखें ! उसका चरित्र ही ऐसा है। आज चारु-मित्रा आपके बाहरी शिविर में आपके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु सम्भवतः आपके लौटने में देर हुई।

अशोक : हाँ, मैं आज शिविरों के निरीक्षण के लिए चला गया था। अभी तक मैं अपने शिविर में शयन के लिए नहीं पहुँचा।

उपगुप्त : महाराज, उस शिविर में आप पर आक्रमण करने के लिए कलिंग के कुछ सैनिक छिपे हुए थे। वे सन्ध्या से ही मगध-सैनिक के वस्त्र में शिविर में घूम रहे थे। चारुमित्रा को उन पर संदेह हुआ। उसने बातें कर यह जान लिया कि वे कलिंग के सिपाही हैं।

अशोक : [आश्चर्यसे] फिर ?

उपगुप्त : महाराज ! देवी चारुमित्रा ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—कायरो, तुम लोग मेरे देश कलिंग के नाम को कलंकित करने वाले हो ! यदि महाराज अशोक को मारना है, तो युद्ध में तलवार लेकर

क्यों नहीं जाते ? यहाँ चोरों की तरह घुस कर एक वीर पुरुष से छल करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती !

अशोक : चारुमित्रा तुम धन्य हो ! तुम देवी हो !

उपगुप्त : महाराज ! उन सैनिकों ने चारुमित्रा को लालच दिया, कलिंग की विजय का स्वप्न दिखलाया, किन्तु चारुमित्रा ने कहा—मैं अपने स्वामी से विश्वासघात नहीं कर सकती ! मैं देश-भक्ति को जितना आदर देती हूँ, उतना ही स्वामिभक्ति को।

अशोक : चारु, तू अमर हो !

उपगुप्त : महाराज, चारु निश्चय ही अमर होगी। उसने उन सैनिकों को हट जाने के लिए ललकारा। जब वे नहीं हटे तो कक्ष में टँगी हुई तलवार लेकर उसने उन सैनिकों पर आक्रमण कर दिया।

तिष्यरक्षिता : धन्य चारु, चारु सैनिक भी है !

उपगुप्त : हाँ देवी, दो सैनिक घायल होकर भाग गये लेकिन एक सैनिक की तलवार चारु के कन्धे पर लगी और वह गिर पड़ी। उसी समय मैं पहुँचा। वह कायर वहाँ से भाग कर पास की झाड़ी में छिप गया। देवी चारु ने अचेत होने से पहिले सारी कथा मुझे टूटे-फूटे शब्दों में सुनाई थी।

अशोक : धन्य है चारु ! आज तूने अपने देश कलिंग को अमर कर दिया।

तिष्यरक्षिता : महाराज, मेरी चारु······

अशोक : महारानी, अधीर मत हो। चारु ने जो कार्य किया है, वह नारी-जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। और सुनो देवी, आज अशोक ने···अत्याचारी अशोक ने युद्ध को सदैव के लिए छोड़ दिया ! [तलवार भूमि पर फेंक देता है।]

सब : महाराज अशोक की जय !

अशोक : महाभिक्षु, आज से मैं हिंसा किसी रूप में न करूँगा। और

देखूँगा कि मनुष्य का रक्त इस पृथ्वी पर न पड़े। प्रत्येक स्थान पर, सिंहासन पर, अंतःपुर में, विहार में, मैं जनता की सेवा करूँगा। आज से मेरा महान् कर्त्तव्य होगा कि मैं सब जीवों की रक्षा का अधिक से अधिक प्रवन्ध करूँ।

उपगुप्त : देवानांप्रिय प्रियदर्शी महाराज अशोक का कल्याण हो !

अशोक : मेरे आदेशों को शिलालेख के रूप में लिखवाकर समस्त आर्यावर्त्त में प्रचार कर दों कि अशोक आज से उनकी रक्षा करने वाला उनका वन्धु है।

चारुमित्रा : [वेहोशी दूर होने पर] महाराज अशोक की जय !

तिष्यरक्षिता : ओह, चारु तू अच्छी है !

अशोक : चारुमित्रा की जय ! चारु ?

चारुमित्रा : महाराज, क्षमा ! आपकी आज्ञा थी कि मैं मगध की ओर से तलवारों के साथ भैरवी-नृत्य सीखूँ ! पूरी तरह नहीं सीख सकी। क्षमा हो।
क्षमा हो।

अशोक : चारुमित्रा, तू पाटलिपुत्र की शोभा है, उसके गौरव की विभूति है।

चारुमित्रा : महाराज आग के अंगारों पर नाचने का अवसर तो आपने नहीं दिया—अब मैंने अंगारों पर अपनी देह रखने का अवसर आप से माँग लिया ! [तिष्य से] क्षमा करें, देवी !

तिष्यरक्षिता : ओह चारु तू अच्छी हो जायगी।

चारुमित्रा : नहीं देवी [शिथिल स्वर से] महाराज अशोक की जय।

[आँखें बन्द कर लेती है अशोक अवाक् हो चारुमित्रा की ओर देखते रह जाते हैं।]

पटाक्षेप

१७

सूखी डाली

●

‘उपेन्द्रनाथ ‘अश्क’

पात्र

पुरुष पात्र	स्त्री पात्र
दादा	: वेला (छोटी वहू)
कर्मचन्द	: छोटी भाभी (वेला की सास, इन्दु की माँ)
परेश	: मँझली भाभी
भाषी	: वड़ी भाभी
मल्लू	: मँझली वहू
	वड़ी वहू
	इन्दु
	रजवा
	पारो

पहला दृश्य

[मानव प्रगति के इस युग में जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अराजकता की हद तक महत्त्व दिया जाता है और तानाशाही को सभ्य समाज में अत्यन्त निन्दनीय माना जाता है, दादा मूलराज अपने समस्त कुटुम्ब को एक यूनिट (unit) बनाये, उस पर पूर्णरूप से अपना प्रभुत्व जमाये, उस महान् वट की भाँति अटल खड़े हैं जिसकी लम्बी-लम्बी डालियाँ उनके आँगन में एक बड़े छाते की भाँति धरती को आच्छादित किये हुए, अगणित घोंसलों को अपने पत्तों में छिपाये, वर्षों से तूफ़ानों और आँधियों का सामना किये जा रही हैं।

वर्षों इस वट की संगति में रहने के कारण दादा वट ही की भाँति महान् दिखाई देते हैं। आयु की ७२ सर्दियाँ देख लेने पर भी उनका शरीर अभी तक नहीं झुका और उनकी सफ़ेद दाढ़ी वट की लम्बी-लम्बी दाढ़ियों की भाँति उनकी नाभि को छूती हुई मानो धरती को छूने का प्रण किये हुये हैं।

दादा का बड़ा लड़का सन् १९१४ के महायुद्ध में सरकार की ओर से लड़ते-लड़ते काम आया था। इसके बदले में सरकार ने दादा को एक मुरब्बा जमीन दी थी। किन्तु दादा सरकार की इस कृपा ही पर सन्तुष्ट नहीं रहे। अपने साहस, परिश्रम, निष्ठा, दूरदर्शिता और रसूख से उन्होंने एक के दस मुरब्बे बनाये। उनके दो बेटे और पोते, जमीन, डेयरी फार्म और चीनी के उस कारखाने के काम की देख-भाल करते हैं,

जो उन्होंने हाल ही में अपनी जमीन में लगाया है। सबसे छोटा पोता अभी-अभी नायब तहसीलदार होकर इसी कस्बे में लगा है। और कुछ ही दिन हुए उसका विवाह लाहौर के एक प्रतिष्ठित कुल की सुशिक्षिता लड़की से हुआ है।

उनके छोटे पोते परेश का नायब तहसीलदार और उनकी छोटी पतोहू का सुशिक्षित होना, दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं। पहली से सरकारी हलकों में उनकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ जाने की सम्भावना है; गाँव में उनका और भी आदर होने लगा है, किन्तु साथ ही दूसरी से उनके परिवार के लिए संकट भी उपस्थित हो गया है। उनकी तीनों बहुएँ जो घर में बड़ी भाभी, मँझली भाभी और छोटी भाभी के नाम से पुकारी जाती हैं, सीधी-सादी महिलाएँ हैं। उन सबमें उनकी पोती इन्दु ही जिसने प्राइमरी स्कूल में बड़ी सफलतापूर्वक शिक्षा पाई है सबसे अधिक पढ़ी-लिखी समझी जाती है। घर में उसकी चलती भी खूब है और दादा अपनी इस पोती से प्यार भी बहुत करते हैं; किन्तु इस ग्रेजुएट छोटी पतोहू, जो घर में छोटी बहू के नाम से पुकारी जाती है; के आने से कुटुम्ब के इस तालाब में इस प्रकार लहरें-सी उठने लगी हैं जैसे स्थिर पानी में बड़ी-सी ईंट गिरने से पैदा हो जाती हैं।

पर्दा इमारत के बरामदे में खुलता है। वास्तव में यह बरामदा घर की स्त्रियों की रांदेवू (Rendezvous) सम्मिलन-स्थल है। दिन-भर इसमें कोलाहल मचा रहता है। कभी घर की स्त्रियाँ यहाँ धूप लेती हैं, कभी चरखे कातती हैं, कभी गप्पें उड़ाती हैं, कभी लड़ती-झगड़ती हैं, और कुछ न हो तो स्नानागार में पड़े कपड़े ही धोया करती हैं। यह स्नानागार

बाहर अहाते में है। दाईं दीवार के कोने में जो दरवाजा है, उसके साथ ही बाहर को! रसोई आदि से निपट कर दोपहर के बाद, घर की दो-चार स्त्रियाँ प्रायः रोज वहाँ कपड़े धोया करती हैं और निरन्तर 'थप-थप', 'धप-धप' की ध्वनि इस बरामदे में गूँजा करती है।

सामने की दीवार के बायें कोने में एक छोटी-सी गैलरी है, जिसमें दोनों ओर आमने-सामने पहले मँझली बहू और बड़ी बहू के कमरे हैं जिनकी खिड़कियाँ बरामदे में खुलती हैं। फिर मँझली भाभी और बड़ी भाभी के। छोटी भाभी का कमरा जो इन्दु की माँ और बहू बेला की सास है दाईं ओर है। छोटी बहू का कमरा ऊपर की छत पर है और बाईं दीवार में सीढ़ियाँ बनी हैं जो ऊपर को जाती हैं।

सामने की दीवार के साथ, गैलरी के इधर को दो तख्त बिछे हैं। दो-एक चारपाइयाँ दीवार के साथ खड़ी हैं। एक पुराने फैशन की बड़ी आराम-कुर्सी भी सामने की दीवार के साथ लगी हुई है।

दोपहर होने में अभी काफी देर है। अतः बरामदे में अपेक्षाकृत निस्तब्धता है, केवल गैलरी से स्त्रियों के जल्दी-जल्दी बातें करने की आवाज आ रही है पर्दा उठने के कुछ क्षण पश्चात् इन्दु तेज-तेज गैलरी से निकलती है और बिफरी हुई-सी दाईं तरफ के तख्त पर बैठ जाती है। उसके पीछे-पीछे बड़ी बहू शान्त स्वभाव से चलती हुई आती है। इन्दु की भृकुटी चढ़ी है और बड़ी बहू शान्त और गम्भीर है।]

बड़ी बहू : [इन्दु के कन्धों पर अपने दोनों हाथ रखते हुए] आखिर कुछ कहो भी। क्या कह दिया छोटी बहू ने ?

इन्दु : [चुप]

बड़ी बहू : क्या कह दिया उसने जो इतनी बिफरी हुई हो ?

इन्दु : [क्रोध से] और क्या ईंट मारती।

बड़ी बहू : कुछ कहो भी……

इन्दु : मेरे मायके में यह होत। है, मेरे मायके में यह नहीं होता [हाथ झटकाकर] अपने और अपने मायके के सामने तो वह किसी को कुछ गिनती ही नहीं। हम तो उसके लिए मूर्ख, गँवार और असभ्य हैं।

बड़ी बहू : [आश्चर्य से] क्या ?

इन्दु : बैठक के बाहर मिसरानी खड़ी रो रही थी। मैंने पूछा तो पता चला कि वहू रानी ने उसे काम से हटा दिया है !

बड़ी बहू : [उसी आश्चर्य से] काम से हटा दिया है ! भला क्या दोष था उसका ?

इन्दु : दोष यह था कि उसे काम करना नहीं आता।

बड़ी बहू : [स्तम्भित] काम करना नहीं आता !

इन्दु : उस बेचारी ने कहा भी कि मैं दस-पाँच दिन में सब कुछ सीख जाऊँगी। भला कै दिन हुए हैं मुझे आपका काम करते ? किन्तु वहू रानी न मानीं। झाड़न उन्होंने उसके हाथ से छीन लिया। और कहा कि हट तू, मैं सब कुछ स्वयं कर लूँगी। अभी तक इतना तो सलीका नहीं कि बैठक कैसे साफ़ की जाती है, पाँच-दस दिन में तू क्या सीख जायगी ?

बड़ी बहू : सलीका नहीं…

इन्दु : मैंने जाकर समझाया कि भाभी, दस साल से यही मिसरानी घर का काम कर रही है। घर-भर की सफाई करती है, वर्तन मलती है, कपड़े धोती है। जाने तुम्हारा कौन-सा ऐसा काम है, जो

इससे नहीं होता। फिर मैंने समझाया कि भाभी ! नौकर से काम लेने की भी तमीज़ होनी चाहिए।

बड़ी बहू : हाँ, और क्या...

इन्दु : झट से बोली, 'वह तमीज़ तो बस आप लोगों को है।' मैंने कहा, तुम तो लड़ती हो। मैं तो सिर्फ यह कहना चाहती थी कि नौकर से काम लेने का भी ढंग होता है। इस पर तनकर बोली, 'और वह ढंग मुझे नहीं आता, मैंने नौकर जो यहीं आकर देखे हैं।' फिर कहने लगी 'काम लेने का ढंग उसे आता है, जिसे काम की परख हो। सुबह-शाम झाड़ू देने मात्र से कमरा साफ़ नहीं हो जाता। उसकी बनावट-सजावट भी कोई चीज़ है। न जाने तुम लोग किस तरह इन फूहड़ नौकरों से गुजारा कर लेते हो। मेरे मायके में तो ऐसी गँवार मिसरानी दो दिन छोड़, दो घड़ी भी न टिकती।'

बड़ी बहू : कही उसने ये सब बातें ?

इन्दु : और कैसे कही जाती हैं—जब से आई है यही तो सुन रहे हैं—नौकर अच्छे हैं तो उसके मायके में, खाना-पीना अच्छा है तो उसके मायके में, कपड़े पहनने का ढंग आता है, तो उसके मायके वालों को, हम तो न जाने कैसे जी रहे हैं [नाक-भौं चढ़ाकर] यहाँ के लोगों को खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना कुछ भी नहीं आता। हमारे नौकर गँवार, हमारे पड़ोसी गँवार, हम स्वयं गँवार...

बड़ी बहू : [चकित-विस्मित सिर्फ सुनती है]

इन्दु : मैंने भी कह दिया—क्या बात है भाभी तुम्हारे मायके की ? एक नमूना तुम्हीं जो हो। एक मिसरानी भी ले आतीं तो हम गँवार भी उससे कुछ सीख लेते।

[दाईं दीवार के कमरे से छोटी भाभी (इन्दु की माँ और छोटी बहू बेला की सास) प्रवेश करती है। उसके पीछे-पीछे रजवा है।]

छोटी भाभी : क्यों इन्दु बेटी, क्या बात हुई ? यह रजवा रो रही है, कोई कड़वी बात कह दी छोटी बहू ने इसे।

इन्दु : मीठी वे कब कहती हैं जो आज कड़वी कहेंगी।

छोटी भाभी : यह आज तुम कैसी जली-कटी बातें कर रही हो ? छोटी बहू से झगड़ा हो गया है क्या ?

रजवा : [भरे हुए गले से] माँजी, आज उन्होंने बरबस मुझे काम से हटा दिया···इतने बरस हो गए आपकी सेवा करते, कभी किसी ने इस प्रकार अनादर नहीं किया था। मुझे तो माँजी, आप अपने पास रखिये। मैं आज से उनका काम न करने जाऊँगी !

छोटी भाभी : वह तो बच्ची है मिसरानीं, तू भी उसके साथ बच्ची हो गई !

इन्दु : [मुँह बिचकाकर व्यंग्य से] जी हाँ, बच्ची है ! रोटी को चोची कहती है। उसे तो बात करनी ही नहीं आती [क्रोध से] अपने मायके के सामने तो वह किसी को कुछ समझती ही नहीं और गज-भर की जबान···

बड़ी बहू : बात यह है छोटी माँ, कि छोटी बहू को हमारा खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना कुछ भी पसन्द नहीं। उसे हमसे, हमारे पड़ोस से, हमारी हर बात से घृणा है।

छोटी भाभी : [चिन्ता से] फिर कैसे चलेगा ? हमारे घर में तो मिलकर रहना, बड़ों का आदर करना, अपने घर की रूखी-सूखी को दूसरों की चुपड़ी से अच्छा समझना, नौकरों पर दया और छोटों पर···

[मँझली बहू बाहर से हँसती हुई प्रवेश करती है।]

मँझली बहू : खिहि···खिहि···खिहि···हा हा हा······

इन्दु : क्या बात है भाभी, जो हँसी के मारे लोट-पोट हुई जा रही हो ?

मँझली बहू : खिहि···खिहि···[हाथ पर हाथ मारती है] हा-हा—हा-हा-हा······

[गैलरी से मँझली भाभी और बड़ी भाभी प्रवेश करती हैं।]

दोनों : क्या बात है जो आज इतनी 'हा हा, ही ही' हो रही है ?

इन्दु : यह भाभी हैं कि बस हँसे जा रही हैं, कुछ बताती ही नहीं।

मँझली बहू : मैं कहती हूँ···[फिर हँस पड़ती है]

बड़ी बहू : आखिर कुछ कहो भी ?

मँझली बहू : आज भाई परेश की वह गत बनी कि बेचारे अपना-सा मुंह लेकर रह गए···खिहि···हि···हा-हा···हा-हा...हा-हा-हा···

छोटी भाभी : ओ हो, तुम्हारी हँसी भी बहू···

मँझली बहू : मैं क्या करूँ—मैं हँसी के मारे मर जाऊँगी।

छोटी माँ : अभी-अभी छोटी बहू ने परेश की वह गत बनाई कि बेचारा अपना-सा मुंह लेकर दादाजी के पास भाग गया।

बड़ी बहू, इन्दु : बात क्या हुई ?

मँझली बहू : मैं तो उधर ऊपर सामान रखने गई थी। बहुत बातें तो मैंने सुनी ही नहीं, बहुत समझ भी नहीं पाई। अंग्रेजी में गिटपिट कर रहे थे। छोटी बहू का पारा कुछ चढ़ा हुआ था। इतना मालूम हुआ कि परेश स्नान कर कमरे में गया तो बहू रानी ने सारा फ़र्नीचर निकालकर बाहर रख दिया था। परेश ने कारण पूछा। छोटी बहू ने कहा, 'मैं इन टूटी-फूटी कुर्सियों और सड़े-गले फ़र्नीचर को अपने कमरे में न रहने दूंगी।' परेश कहने लगा, 'हमारे बुजुर्ग···' बात काटकर छोटी-बहू ने कहा, 'हमारे

बुजुर्ग तो नंगे-बुच्चे जंगलों में घूमा करते थे, तो क्या हम भी उनका अनुकरण करें ?' [हँसती है] और जो सामान पड़ा था वह भी उठाकर बाहर फेंक दिया।

इन्दु : फिर···फिर···

मँझली भाभी : छोटी बहू···

छोटी भाभी : यह तो···

मँझली बहू : परेश ने कहा, इस फ़र्नीचर पर हमारे दादा बैठते थे, पिता बैठते थे, चाचा बैठते थे। उन लोगों को कभी शर्म नहीं आई; उन्होंने कभी फ़र्नीचर के गले-सड़े होने की शिकायत नहीं की। अब यदि मैं जाकर इसे रखने पर आपत्ति करूँगा तो दादा कहेंगे कि तहसीलदार होते ही लड़के का सिर फिर गया है [हाथ मटकाकर] न भाई।

मँझली और बड़ी भाभी : हाँ, ठीक ही तो कहा परेश ने।

छोटी भाभी : परेश···मेरा बेटा भला···

मँझली बहू : तब बहू ने कहा, 'तो न कहो—मैं तो इस गले-सड़े सामान को कमरे के पास तक न फटकने दूँगी। इस बेडौल फ़र्नीचर से तो नीचे धरती पर चटाई बिछाकर बैठे रहना अच्छा है। मेरे मायके में···'

इन्दु : [क्रोध से] बस, उसे तो अपने मायके की पड़ी रहती है चौबीस घड़ी !

मँझली बहू : और छोटी बहू ने अपने मायके के बड़े-गड़े कमरों और उनके बहुमूल्य फ़र्नीचर का बखान किया [हँसती है] और महाशय परेश की एक भी न चलने दी। बेचारे भीगी बिल्ली बने दादाजी के पास चले गए—खि हि हि···खि हि हि···[हँसती हैं। दूसरी

भी उसके साथ हँसती हैं।] मैं तो चुपके से चली आई [मुँह बिचकाकर] ज़बान है छोटी वहू की या कतरनी···और फिर जब अंग्रेज़ी बोलने लगती है तो कुछ समझ में ही नहीं आता। परेश बेचारा तो अपना-सा मुँह लेकर रह जाता है। जाने तहसीलदार कैसे बन गया !

इन्दु : बस ज़बान ही ज़बान है। बात तो जब है, जब काम भी हो। एक काम को कहो, तो सौ नाक-भौंह चढ़ाती है। दादाजी ने चार कपड़े धोने को कहा था, वे तो पड़े गुसलखाने में गल रहे हैं।

छोटी भाभी : गुसलखाने में गल रहे हैं। तू उठा क्यों न लाई उन्हें, जा भाग-कर उठा ला और फटककर आँगन में डाल दे। मैं बहू को समझा दूंगी—इस तरह कैसे चलेगा [···और भी चिन्ता से]··· परेश ने समझाया नहीं उसे ?

इन्दु : परेश की तो जैसे वहाँ बड़ी सुनवाई होती है।

मँझली बहू : वह मलमल के थान और अबरों* की बात याद है न—अभी तक पड़े हुए हैं। कह-कहकर हार गए परेश महाशय। बहूरानी ने हाथ तक न लगाया उन्हें और वे शर्म के मारे ले जाते नहीं दादाजी के पास। कचहरी में होंगे तहसीलदार, घर में तो अभियुक्तों से भी गए-बीते हो जाते हैं। [हँसती है]

[इन्दू और बड़ी बहू भी हँसती हैं]

छोटी भाभी : पर दादा जी के कपड़े······

बड़ी भाभी : तुम भी बहन बस···क्या इतना पढ़-लिखकर छोटी बहू कपड़े धोयेगी !

इन्दु : क्यों ! उसके हाथ नमक मिट्टी के हैं जो गल जायँगे।

[बाहर से दादा के गुड़गुड़ाने की आवाज आती है]

---

*अबरा—लिहाफ़ के ऊपर का कपड़ा।

छोटी भाभी : तुम चलो इन्दु—कपड़े फटककर अहाते में डाल दो। शायद उन्हें ज़रूरत हो। मागेंगे तो···मैं बहू को समझा दूंगी।

[पर्दा गिरता है]

दूसरा दृश्य

[वही बरामदा : दाईं ओर के तख्त पर बिस्तर बिछा हुआ है। दीवार के साथ तकिया लगा है। दादा आराम से तकिये के सहारे बैठे हुक्का पी रहे हैं। उनका मँझला लड़का कर्मचन्द पास बैठा उनके पाँव दाब रहा है। हुक्का पीते-पीते दादा बच्चों को बाहर अहाते में खेलते हुए देख रहे हैं। स्नान-गृह से नल के जल्दी-जल्दी चलने की आवाज आ रही है। शायद कोई बच्चा उसे चला रहा है। क्योंकि कर्मचन्द की भृकुटी तन गई है।

पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद तक नल के चलने और हुक्के के गुड़गुड़ाने की आवाज आती रहती है। फिर···]

कर्मचन्द : [क्रोध से] बस करो जगदीश ! क्या खट-खट लगा रखी है ? जरा आराम करने दो। अभी-अभी खाना खाकर बैठे हैं कि तुम···

दादा : [हुक्के की नली को हटाकर उधर देखते हुये] नहीं, नहीं, खेलने दो बच्चों को। [फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं] बच्चे··· हँसते हैं। वट की पूरी डाल लाकर आँगन में लगा दी और उसे पानी दे रहे हैं···[हँसते हैं] नहीं जानते कि पेड़ में टूटी

डाल जल देने से नहीं पनपती। [हुक्का गुड़गुड़ाते हैं फिर नली छोड़कर कर्मचन्द से] मैं कहा करता हूं न बेटा कि एक वार वृक्ष से जो डाली टूट गई, उसे लाख पानी दो, उसमें वह सरसता न आयेगी और हमारा यह परिवार वरगद के इस महान पेड़ की भाँति है…

कर्मचन्द : लेकिन शायद अब इस पेड़ से एक डाली टूटकर अलग हो जाय।

दादा : [चिन्ता से] क्या कहते हो ? कौन अलग हो रहा है ?

कर्मचन्द : शायद छोटा अलग हो जाय ?

दादा : परेश ? पर क्यों—उसे क्या कष्ट है ?

कर्मचन्द : कष्ट तो उसे नहीं; छोटी बहू को है।

दादा : मुझे किसी ने बताया तक नहीं। यदि कोई शिकायत थी तो उसे वहीं मिटा देना चाहिए था। हल्की-सी खरोंच भी, यदि उस पर तत्काल दवाई न लगा दी जाय, वढ़कर एक वड़ा घाव वन जाती है और वही घाव फिर नासूर हो जाता है, फिर लाख मरहम लगाओ ठीक नहीं होता।

कर्मचन्द : मैं अच्छी तरह तो नहीं जानता, पर जहाँ तक मेरा विचार है छोटी बहू के मन में दर्प की मात्रा जरूरत से कुछ ज्यादा है। मैंने मलमल के थान और रजाई के अवरे लाकर दिये थे न ? और सबने तो रख लिये पर सुना है कि छोटी बहु को पसन्द नहीं आये। अपने मायके के घराने को शायद वह इस घराने से वड़ा समझती है और इस घर को घृणा की दृष्टि से देखती है।

दादा : बेटा, बड़प्पन बाहर की वस्तु नहीं—बड़प्पन तो मन का होना चाहिए। और फिर बेटा घृणा को घृणा से नहीं मिटाया जा सकता। बहू तभी पृथक् होना चाहेगी जब उसे घृणा के वदले घृणा दी जायगी; लेकिन यदि घृणा के बदले उसे स्नेह मिले तो

उसकी समस्त घृणा धुंधली पड़कर अवश्य लुप्त हो जायगी [हुक्का गुड़ागुड़ाते हैं] और महानता भी बेटा, किसी से मनवायी नहीं जा सकती। अपने व्यवहार से अनुभव कराई जा सकती है। ठूंठ वृक्ष आकाश को छूने पर भी अपनी महानता का सिक्का हमारे दिलों पर उस समय तक नहीं विठला सकता, जब तक अपनी शाखाओं में वह ऐसे पत्ते नहीं लाता, जिनकी शीतल सुखद छाया मन के समस्त ताप को हर ले और जिसके फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध हमारे प्राणों में पुलक भर दे।

भाषी : [बाहर से] दादाजी, मल्लू और जगदीश ने मेरा वट का पेड़ उखाड़ दिया [मल्लू से लड़ते हुए चीख-चीखकर] क्यो उखाड़ा तूने मेरा पेड़—क्यों उखाड़ा···?

दादा : पेड़ ?···हँसते हैं···बच्चे !! [हँसते हैं] ठहरो भाषी, लड़ो मत, बेटा। जाना कर्मचन्द, जरा हटाना इन दोनों को···

[कर्मचन्द जाता है। दादा फिर हुक्के की नली मुँह से लगा लेते हैं—परेश नीची नजर किए प्रवेश करता है।]

दादा : आओ बेटा परेश, वह मैंने एक-दो कपड़े भेजे थे न, तनिक देखना वहू ने उन्हें धो डाला या नहीं। धो डाले हों तो ले आओ जरा, फिर तुमसे बात करूँगा।

परेश : मैं लज्जित···

दादा : नहीं धुले तो फिर धुल जायेंगे बेटा आओ इधर बैठो मेरे पास। मैं तो तुम्हें बुलाने ही वाला था। आओ, आओ, इधर आकर बैठो। [फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। परेश चुपचाप आकर दादा के पास बैठ जाता है।]

दादा : [हुक्का गुड़गुड़ाना छोड़कर] मुझे कर्मचन्द से अभी पता चला है कि तुम्हारी वहू को रजाई के अबरे और मलमल का थान

पसंद नहीं आये। तुम्हारे ताऊ ठहरे पुराने समय के आदमी—वे नये फैशन की चीजें खरीदना क्या जाने ? जभी तो मैं कहता हूँ कि छोटी वहू को बाजार ले जाओ। वह स्वयं अपनी पसन्द की चीजें ले आयेगी।

परेश : जी...

दादा : [हुक्के का एक कश लगाकर] और मैं सोचता था कि [गुड़-गुड़ाते हैं] मैं जब अपने परिवार का ध्यान करता हूँ तो मेरे सामने वट का महान् पेड़ घूम जाता है [खाँसकर] शाखाओं पत्तों, फलों, फूलों, से भरा-पूरा [हुक्के के एक दो कश लगाते हैं] और फिर मेरी आँखों के सामने इस महान् वृक्ष की डालियां टूटने लगती हैं और यह केवल ठूंठ रह जाता है [स्वर धीमा, जैसे अपने आपसे कह रहे हैं] और मैं सिहर उठता हूँ। न बेटा, मैं अपने जीते-जी यह सब न होने दूंगा। तुम चिन्ता न करो। मैं सबको समझा दूंगा—घर में किसी को तुम्हारी पत्नी का तिरस्कार करने का साहस न होगा। कोई उसका समय नष्ट न करेगा। ईश्वर की अपार कृपा से हमारे घर में सुशिक्षित, सुसंस्कृत बहू आई है तो क्या हम अपनी मूर्खता से उसे तंग कर देंगे ? तुम जाओ बेटा, किसी प्रकार की चिन्ता को मन में स्थान न दो। मैं कोई न कोई उपाय ढूंढ निकालूंगा। तुम विश्वास रखो वह अपने आपको परायों में घिरी अनुभव न करेगी। उसे वही आदर-सत्कार मिलेगा जो उसे अपने घर में प्राप्त था।

परेश : जैसा आप उचित समझें।

दादा : और देखो, तुम स्वयं भी इस बात का ध्यान रखना, तुम्हारी किसी बात से उसका मन न दुःखे ? कोई भी ऐसी बात न करो जिसे वह अपना अपमान समझे।

[परेश चलने को होता है]

और तुम उसे साथ ले जाकर नगर से सब चीजें खरीद लाओ। शेष की चिन्ता तुम न करो, मैं कोई न कोई रास्ता अवश्य निकाल लूंगा।

परेश : जैसी आपकी इच्छा।

[चला जाता है। दादा फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। हुक्के के कश लम्बे हैं जो इस बात के साक्षी हैं कि दादा हुक्का पीने के साथ-साथ सोच भी रहे हैं।]

दादा : [जैसे अचानक उन्हें कुछ सूझ गया हो।] रजवा…रजवा…! [फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, रजवा नहीं आती, फिर आवाज देते हैं] रजवा…रजवा…!

रजवा : [दूर से] जी आई। [भागती हुई-सी प्रवेश करती है]

दादा : छोटी बहू के अतिरिक्त सब को मेरे कमरे में भेज दो। कहो कि सब काम छोड़कर मेरे पास आएँ [रजवा जाने लगती है] और सुनों, कोई न रहे—सबसे कहना, कुछ क्षण के लिए अवश्य यहाँ आ जाएँ।

रजवा : जी, मैं अभी जाकर सबसे कहे देती हूँ।

[चली जाती है। दादा फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। नल से किसी के कपड़े धोने की आवाज आने लगती है। दादा और भी लम्बे-लम्बे कश लेते हैं। धीरे-धीरे कुटुम्ब के प्राणी आने लगते हैं। बालक और युवक तख्त और चारपाइयों पर बैठते हैं और स्त्रियाँ बरामदे के फर्श पर। रजवा उनके बैठने के लिये मोढ़े और चटाइयाँ लाकर बिछा देती है।]

दादा : [हुक्का पीना छोड़कर] इन्दु कहाँ है, वह नहीं दीखती?

[फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं और एक नज़र सबको देखते हैं। रजवा स्नानघर को जानेवाले दरवाजे में जाकर इन्दु को आवाज देती है। कपड़े धोने का स्वर जो इस बीच में निरन्तर आता रहा है, सहसा बन्द हो जाता है।]

इन्दु : [बाहर से] जी आई [अन्दर आकर] मैं नल पर थी, कपड़े धोने में लगी थी।

दादा : [एक कश खींचकर] बैठो बेटा [एक-दो क्षण तक हुक्का गुड़गुड़ाते हैं] मैंने आज तुम सबको एक विशेष अभिप्राय से बुलाया है। मुझे यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि छोटी बहू का मन यहाँ नहीं लगा!

इन्दु : दादाजी...

दादा : इन्दु बेटा, मुझे अपनी बात कह लेने दो। मुझे जानकर बड़ा दुःख हुआ कि छोटी बहू का मन यहाँ नहीं लगा। दोष उसका नहीं दोष हमारा है। वह एक बड़े घर की बेटी है, अत्यधिक पढ़ी-लिखी है। सबसे आदर पाती रही है और राज करती आई है। यहाँ वह केवल छोटी बहू है, यहाँ उसे हर एक का आदर करना पड़ता है; हर एक से दबना पड़ता है; यहाँ उसका व्यक्तित्व दबकर रह गया है। मुझे यह बात पसन्द नहीं [कुछ क्षण हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, फिर—] बेटा, बड़ा वास्तव में कोई उम्र से या दर्जे से नहीं होता। बड़ा तो बुद्धि से होता है, योग्यता से होता है। छोटी बहू उम्र में न सही, अक्ल में हम सबसे निश्चय ही बड़ी है। हमें चाहिए कि उसकी बुद्धि से, उसकी योग्यता से लाभ उठायें। मेरी इच्छा है कि उसे यहाँ वही आदर-सत्कार मिले जो उसे अपने घर में प्राप्त था। सब उसका कहना मानें, उससे परामर्श लें और मैं प्रसन्न हूँगा यदि

उसका काम भी तुम लोग आपस में बाँट लो और उसे पढ़ने-लिखने का अवसर दो। उसे अनुभव ही न हो कि वह किसी दूसरे घर में, किसी दूसरे वातावरण में आ गई है। [फिर कुछ क्षण हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, फिर—] बेटा, यह कुटुम्ब एक महान् वृक्ष है। हम सब इसकी डालियाँ हैं। डालियों ही से पेड़-पेड़ है और डालियाँ छोटी हों चाहे बड़ी, सब उसकी छाया बढ़ाती हैं। मैं नहीं चाहता, कोई डाली इससे टूटकर पृथक् हो जाय। तुम सदा मेरा कहना मानते रहे हो। बस यही बात मैं कहना चाहता हूँ...यदि मैंने सुन लिया—किसी ने छोटी बहू का निरादर किया है; उसकी हँसी उड़ाई है या उसका समय नष्ट किया है तो इस घर से मेरा नाता सदा के लिए टूट जायगा...अब तुम सब जा सकते हो। [फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं। सब धीरे-धीरे जाने लगते हैं।]—इन्दु बेटा और मँझली बहू, तुम जरा बैठो। [दोनों के अतिरिक्त शेष सब चले जाते हैं।]—मँझली बहू, तुम अपनी हँसी को उन लोगों तक ही सीमित रखो बेटा, जो उसे सहन कर सकते हैं। बाहर के लोगों पर घर में बैठकर हँसा जा सकता है, किन्तु घर के लोगों को तब तक हँसी का निशाना बनाना ठीक नहीं, जब तक वे पूर्णतया घर का अंग न बन जायँ और इन्दु बेटा, तेरी छोटी भाभी बड़ी बुद्धिमती, सुशिक्षित और सुसंस्कृत है, तुझे उसकी हँसी उड़ाने, उससे लड़ने-झगड़ने के बदले उसका आदर करना चाहिए, उससे ज्ञानार्जन करना चाहिए। तुम दोनों को मैं इस विषय में विशेष-कर सावधान रहने का आदेश देता हूँ। [फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। फिर क्षणभर बाद]—अब तुम जाओ और देखो कि मुझे शिकायत का अवसर न मिले [गला भर आता है।] यही मेरी आकांक्षा है कि सब डालियाँ साथ-साथ बढ़ें, फलें-फूलें

जीवन की सुखद, शीतल वायु के स्पर्श से झूमें और सरसायें ! विटप से अलग होने वाली डाली की कल्पना ही मुझे सिहरा देती है । [फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं ।]

इन्दु : हमें क्षमा कीजिए दादाजी, हमारी ओर से आपको कभी शिकायत का अवसर न मिलेगा ।

[दोनों चली जाती हैं । दादा कुछ देर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, फिर बाहर खेलते हुए बच्चों को आवाज देते हैं ।]

दादा : भाषी, मल्लू, जगदीश, आओ आज तुम्हें एक कहानी सुनाएँ··· वट के पेड़ और उसके बच्चों की ।

भाषी : [दरवाजे से झाँककर] हम सुन चुके हैं । हम नहीं आते । हर बार वही कहानी······

मल्लू : चाँद राजा, तारा राजा की सुनाओ तो आएँ । हर बार वही कहानी [नकल उतारकर] एक था वट का पेड़···

[हँसते हुए अदृश्य हो जाते हैं ।]

दादा : [हँसते हैं] यही कहानी—यही कहानी तो कुटुम्ब का, समाज का, राष्ट्र का निर्माण करती है । यही तो जीवन को सुदृढ़, विशाल और महान् बनाती है । [हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं] ।

[पर्दा गिरता है ।]

तीसरा दृश्य

[वही बरामदा—दोनों तख्त पूर्ववत् खिड़कियों के बराबर रखे हुए हैं और दो चारपाइयाँ वैसे ही दीवार के साथ लगी खड़ी हैं । हाँ, कुर्सी मध्य में आ गई है—ज्ञात होता है

कि इस पर छोटी बहू—बेला—बैठी धूप ले रही थी—किन्तु पर्दा उठने पर वह आकुलता से घूमती हुई दिखाई देती है—एक हाथ में पुस्तक है, मानो पढ़ते-पढ़ते कोई विचार आ जाने से उठकर घूमने लगी हो।]

बेला : [अपने आपसे] मैं किन लोगों में आ गई हूँ ? ये कैसे लोग हैं ......कुछ भी तो समझ न सकी......आज कुछ है कल कुछ ......पल में तोला पल में माशा......इनका कुछ भी तो पता नहीं चलता। [फिर सोचती हुई धीरे-धीरे घूमती है।]—गर्म होते हैं तो आग बन जाते हैं और नर्म होते हैं तो मोम से भी कोमल दिखाई देते हैं। आज जिस बात को बुरा कहते हैं, कल उसी की प्रशंसा करते हैं—मैं तो तंग आ गई इन लोगों से।

[जाकर फिर कुर्सी पर बैठ जाती है और पुस्तक खोल लेती है। अन्दर गैलरी से उसकी सास—छोटी भाभी आती है]

छोटी भाभी : तुम ठीक कहती थीं बेटी—इस रद्दी सामान से बैठक-बैठक नहीं, कवाड़ी का गोदाम दिखाई देती थी। सोचती थी कि यह सामान इतने दिनों से कमरे में पड़ा है, कुछ ऐसा बुरा भी नहीं और इस पर इतनी देर से सब बैठते आ रहे हैं, कहीं दादाजी बुरा न मानें, पर अच्छा किया तुमने जो वह सब उठा दिया। मैंने परेश से कह दिया है—तुम उसके साथ जाकर अपनी रुचि का सामान खरीद लाओ। यह सब मैं रजवा से कहकर सुरेश के कमरे में भिजवा देती हूँ। कई बार निगोड़ी इन्हीं कुर्सियों के लिए वह मुझसे रूठ चुका है।

बेला : आप बैठिये माँजी ...!

छोटी भाभी : बस तुम बैठो बेटी। मैं तो यों ही तुम्हें इधर बैठे देखकर चली आई। अनाज पड़ा है, उसे फटकना है, मिर्चें पड़ी हैं, उन्हें

कूटना है, मक्खन कई दिनों का इकट्ठा हो गया है, उसका घी बनाना है—बीसों दूसरे काम हैं, और दिन ढल रहा है। मैं सोचती थी, तुमने मेरी बात का बुरा न माना हो। वास्तव में बेटी, रजवा मेरे पास आकर फूट-फूट कर रो दी। नौकरानी समझदार, विश्वसनीय और आज्ञाकारिणी है, किन्तु जो काम उसने कभी किया ही न हो, वह उससे किस प्रकार हो सकता है ?

वेला : [उठती हुई] आप बैठिए तो···

छोटी भाभी : [उसके कंधों पर हाथ रखकर उसे बैठाते हुए] बैठो-बैठो बेटी, कष्ट न करो। मैं तुम्हारा अधिक समय नष्ट न करूँगी। मैं तो केवल तुमसे उसकी सिफ़ारिश करने आई थी। भावुक स्त्री है, जल्दी ही बात का बुरा मान जाती है। तुम यों करना कि ज्यों ही नया फ़र्नीचर आ जाये, अपने सामने लगवाकर रजवा को एक बार झाड़ना-बुहारना सिखला देना। फिर वह ग़लती नहीं करेगी, न हो तो कभी मुझे बता देना। मैं उसे समझा दूँगी।

वेला : नहीं नहीं, आप···

सास : तुम पढ़ी-लिखी समझदार हो बेटी, इसलिए तुमसे इतना कह दिया है। यों तुम न चाहो तो दूसरा प्रबन्ध हो जायगा। तुम इस बात की तनिक भी चिन्ता न करो। [चलने को उद्यत होती है।]

वेला : आप बैठिए तो सही···

सास : नहीं, नहीं, तुम अपने—पढ़ो। वृथा तुम्हारा समय नष्ट न करूँगी।

[चली जाती है।]

बेला : [पुस्तक बंद करके लम्बी साँस लेती हुई जैसे अपने-आप] इन लोगों की कुछ भी तो समझ नहीं आती । ये माँजी एक दम कैसे बदल गईं । अभी परसों मुझे इसी रजवा के लिए डाँट रही थीं। इनका कुछ भी तो पता नहीं चलता !

[फिर पढ़ने लगती है । बड़ी बहू और मँझली भाभी बाहर के दरवाजे से प्रवेश करती हैं ।]

मँझली भाभी : क्यों बेटी, अब रजवा कुछ काम सीख गई है या नहीं ? [जरा हँसती है] बुढ़िया है तो सयानी…

बड़ी बहू : आपने इन्दु से ठीक ही कहा था । हमें वास्तव में काम की परख नहीं, पर अब…

बेला : आइए, इधर बैठिए, चारपाई सरका लीजिए ।

मँझली भाभी : [वैसे ही खड़े-खड़े] मैंने एक अनुभवी नौकरानी खोज लाने के लिए कह दिया है जो नये फ़ैशन के बड़े घरों में काम कर चुकी हो, वास्तव में बहू, दादाजी पुराने नौकरों के हक में हैं—दयानतदार होते हैं और विश्वसनीय । हमारे पास पीढ़ी-दर-पीढ़ी काम करते आ रहे हैं । इस रजवा की सास भी यहीं काम करती थी, अब रजवा की बहू भी यहीं काम करती है…

बड़ी बहू : मैं कहती हूँ बहिनजी, आप रजवा की बहू को ही अपने पास क्यों नहीं रख लेतीं…उसकी वयस भी कम है और काम भी वह जल्दी सीख जायेगी ।

बेला : [अन्यमनस्क-सी] नहीं, नये नौकर की आवश्यकता नहीं रजवा काम सीख जायगी, [कुछ चिढ़कर] पर आप खड़ी क्यों हैं ?

मँझली भाभी : हम तुम्हारा हर्ज न करेंगी…

बेला : [और भी चिढ़कर] मेरा कुछ हर्ज नहीं होता ।

बड़ी बहू : हम आपसे छोटी हैं, वर्ग में भी और बुद्धि में भी…

बेला : [रुआँसी आवाज में] आप मुझे क्यों काँटों में घसीटती हैं ?… आप मेरे साथ क्यों परायों का-सा व्यवहार करती हैं ?…

[उठ खड़ी होती है]

बड़ी बहू : बैठिए-बैठिए, मँझली भाभी, आप भी बैठिए…

बेला : मैं चलती हूँ…

[रुलाई को रोककर आँखों पर रुमाल रखे जल्दी-जल्दी चली जाती है ।]

मँझली भाभी : [जैसे अपने-आप से] परायों का सा…

[बाहर से मँझली बहू के कहकहे की आवाज आती है— दूसरे क्षण वह, इन्दु और पारो के कंधे पर झूलती हुई बाहर के दरवाजे से आती है ।]

इन्दु : सच…

मँझली बहू : [हँसी रोककर] और क्या मैं झूठ कह रही हूँ । मैंने अपनी इन दो आँखों से देखा [हँसती है ।] मलावी ने सारी की सारी छत फावड़े से खोद डाली और वँसीलाल महाशय देखते मुंह रह गए ।

[सब ठहाका मार कर हँस पड़ती हैं ।]

बड़ी बहू : भाई मुझे भी बताना…क्या किया मलावी ने…सच !

[मँझली बहू चारपाई बिछाकर उसमें धँस जाती है । उसकी एक ओर इन्दु और दूसरी ओर पारो बैठ जाती हैं । मँझली भाभी कुर्सी पर बैठती है और बड़ी बहू खड़ी रहती है]

मँझली भाभी : [कुर्सी को जरा खिसकाकर समीप होते हुए] बंसीलाल के सामने उखाड़कर फेंक दी छत मालवी ने ?

मँझली बहू : मैं कहतो हूँ, मुँह देखते रह गए बंसीलाल महाशय, ताका किये मुटर-मुटर ।

[सब ठहाका लगाती हैं ।]

बड़ी बहू : अरे कौन-सी छत खोद डाली यह तो बताओ ?

मँझली बहू : रसोई की और कौन-सी । अभी दो घंटे भी नहीं हुए कि राज-मजदूर छत डालकर गए थे और बंसीलाल कारीगरों और मज-दूरों से निपटकर अभी दूकान को गया था कि आ गई उधर से मलावी मारोमार करती । जाने किसने उसे जाकर बताया कि तुम्हारे देवर ने अपने रसोई पर छत डाल दी है । ले के फावड़ा बस सारी की सारी छत उसने खोद डाली । बंसीलाल तब पहुँचे जब अन्तिम कड़ी भी उखड़ चुकी थी । तब क्या करते—बस ताका किये मुटर-मुटर···

[मँझली भाभी को छोड़कर सब हँसती हैं]

मँझली भाभी : पर बंशीलाल का लड़का···

मँझली बहू : गली के सिरे पर खड़ा खम ठोक रहा है । [जंघा पर हाथ मार-कर बताती है कि कैसे खम ठोक रहा है ।]

इन्दु : खम ठोक रहा है ?

मँझली बहू : [कहकहा लगाती है] सच खम ठोक रहा है और हवा ही में ललकार रहा है कि मैं ड्योढ़ी की छत खोद डालूंगा, मैं मकान को खण्डहर बना दूंगा । मैं यह करूँगा, मैं वह करूँगा और उधर मलावी कसे खड़ी है कि आये जो माई का लाल है, रखे पाँव घर के भीतर···

[सब हँसती हैं ।]

इन्दु : [अंगुली ओठों पर रखकर] शश······श······शी भाभी आ रही हैं ।

[हँसी एकदम बन्द हो जाती है; सन्नाटा छा जाता है— बेला एक हाथ में बन्द किताब थामे धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरती है।]

बेला : क्यों जीजी, आप चुप हो गईं [जरा हंसकर] किस बात पर कहकहे लगाये जा रहे हैं ?

मँझली भाभी : [कुर्सी से उठकर] यों ही हँस रही थी। आओ, इधर कुर्सी पर बैठो।

बेला : नहीं-नहीं आप वैठिए। मैं इधर वैठ जाती हूँ।

मँझली बहू : [जल्दी से उठकर] आइए-आइए, आप इधर वैठिए।

इंदु और पारो : [दोनों चारपाई से उठ जाती हैं।] आइए-आइए, आप इधर वैठिए।

[फिर नीरवता छा जाती है जिसमें एक प्रकार की घुटन है। बेला बाहर की ओर चल पड़ती है।]

इन्दु : वैठिए भाभीजी, आप चली क्यों ?

बेला : [मुड़कर क्लान्त तथा भारी स्वर में] मैं तो उधर ही जा रही थी। यों ही जाते-जाते खड़ी हो गई। मैं आपकी हँसी में बाधा नहीं डालना चाहती। [खिन्न हंसी के साथ] आप हँसिए, कहकहे लगाइए। [चुपचाप अहाते के दरवाजे से निकल जाती है]

मँझली बहू : मैं कहती थी न कि इस ओर न जाओ ? मेरी मुई आदत हुई हँसने की।

इन्दु : अब एक यही स्थान था बैठने को…

मँझली बहू : हम हँसती हैं तो हँसती हैं दिल से और छोटी बहू के अध्ययन में बाधा पड़ती है। मैं कहती हूँ, दादाजी को पता चल गया कि हमारे यहाँ बैठने से छोटी बहू के पढ़ने में बाधा आती है तो वे…

इन्दु : किन्तु यही एक जगह थी पर्दे वाली…

मँझली बहू : तू भूल गई, हमें ही तो दादा जी ने खास तौर पर सतर्क रहने को कहा था [कहकहा लगाकर हँस पड़ती है ।] मैं कहती हूँ चलो मेरे कमरे में ।

इन्दु : मुझे तो दादाजी के कपड़े धोने हैं, मैं चली । [जल्दी-जल्दी बाहर की ओर चली जाती है ।]

मँझली भाभी : ठीक है । तुम लोग अब यहाँ इतना न बैठा करो [बड़ी बहू से] हम तो बहू, गोदाम में जा रही थीं, चलो गेहूँ छँटवा लें । छोटी बहिन तो कब की गई हुई है । फिर तो अस्त हो जायगा दिन और महरिया चली जायँगी ।

बड़ी बहू : मैं तो फँस गई मँझली की बातों में…चलो…चलो ।

[दोनों चली जाती हैं ।]

मँझली बहू : मैं कहती हूँ पारो, चल मेरे कमरे में । वहाँ चलकर बैठ ।

पारो : मुझे तो जाना है भाभी । लल्ला आ गया होगा, न मिली तो चिल्लायेगा ।

मँझली बहू : [अपने आपसे] यह छोटी बहू तो उकाब-सी आकर सबको डरा गई । [हँसती है । बाहर से बड़ी भाभी आती हुई दिखाई देती है, भागकर उसके पास आ जाती है ।]—बड़ी भाभी, सुनी तुमने मलावी की बात, खोद डाली उसने सारी की सारी छत । [कहकहा लगाती है ।]

बड़ी भाभी : मलावी ने छत खोद डाली ?

मँझली बहू : [उसे अपने साथ लेकर कमरे की ओर जाती हुई] हाँ, हाँ, अभी राज-मजदूर बनाकर गए ही थे कि आ गई मलावी मारो-मार करती…

बड़ी भाभी : पर…

मँझली बहू : चलो मेरे कमरे में। वहाँ चलकर सब बताती हूँ। यहाँ तो छोटी बहू की पढ़ाई में बाधा पड़ती है।

[उसे साथ लेकर अपने कमरे की ओर जाती है। बाहर से परेश और बेला बातें करते प्रवेश करते हैं।]

बेला : [आर्द्र कंठ से] आप मुझे मेरे मायके भेज दीजिए मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं अपरचितों में आ गई हूँ। कोई मुझे नहीं समझता, किसी को मैं नहीं समझती।

परेश : आखिर बात क्या है ? कुछ कहो भी ?

बेला : मैं जाती हूँ तो सब खड़ी हो जाती हैं। बड़ी भाभी मँझली भाभी और माजी तक ! मेरे सामने कोई हंसता नहीं, कोई मुझसे अधिक समय तक बात नहीं करना चाहता। सब मुझसे ऐसा डरती हैं जैसे मुर्गी के बच्चे बाज से। अभी-अभी सब हंस रही थीं, ठहाके पर ठहाके मार रही थीं, मैं गई तो सब ऐसे सन्न रह गईं जैसे भरी सभा में किसी ने चुपके से सीटी बजा दी हो।

परेश : पर इसमें…

बेला : और कोई मुझे काम को हाथ लगाने नहीं देता। तनिक-सा भी काम करने लगूँ तो सब भागी आती हैं। सब मेरा इस प्रकार आदर करती हैं, मानो मैं ही इस घर में सबसे बड़ी हूँ।

परेश : मैं नहीं समझता तुम क्या चाहती हो ? तुम्हें शिकायत थी कोई तुम्हारा आदर नहीं करता, अब सब तुम्हारा आदर करते हैं। तुम्हें शिकायत थी कि तुम्हें सबसे दबना पड़ता है, अब सब तुम से दबते हैं; तुम्हें शिकायत थी तुम सबका काम करती हो अब सब तुम्हारा काम करते हैं। आदर-सत्कार, आराम—न जाने तुम और क्या चाहती हो ? [तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ जाता है]

बेला : [निढ़ाल होकर कुर्सी में धँस जाती है] न जाने मैं क्या चाहती हूँ, [सिसकने लगती है] न जाने मैं क्या चाहती हूँ पर मैं इतना जानती हूँ कि मैं यह सब आदर, सत्कार, सुख, आराम नहीं चाहती।

[बाहों में मुँह छिपाकर सिसकती है ! इन्दु हाथ में कुछ मैले कपड़े लिए हुए बाहर के दरवाजे से प्रवेश करती है।]

इंदु : भाभी जी···

बेला : [उसी प्रकार चुप बैठी रहती है]

इन्दु : [बेला के कन्धे को हिलाकर] भाभीजी···भाभीजी···

[बेला मुँह ऊपर उठाती है]

इन्दु : हैं, भाभीजी, आप तो रो रही हैं ?

बेला : [आँखें पोंछकर] नहीं मैं रो नहीं रही, पर इन्दु परमात्मा के लिए मुझे 'जी' 'जी' करके न बुलाया करो।

इन्दु : लो भला यह कैसे हो सकता है। आप मुझसे बड़ी हैं ! और फिर आप मुझसे कहीं अधिक पढ़ी-लिखी हैं।

बेला : पहले तो तू मुझे 'जी' 'जी' करके नहीं बुलाया करती थी ?

इन्दु : मैं तो मूर्ख ठहरी भाभीजी। दादाजी ने कहा था···

बेला : [सहसा चौंककर] दादाजी ने क्या कहा था ?

इन्दु : उन्होंने सबको समझाया था कि घर में सबको आपका आदर करना चाहिए।

बेला : किन्तु उन्होंने यह सब क्यों कहा ? मैंने तो कभी उनसे इस बात की शिकायत नहीं की ?

इन्दु : शायद छोटे भय्या ने उनसे यह कहा था कि आपका जी यहाँ नहीं लगता आप बागवाले···

बेला : अहो ! यह बात हैं।

इन्दु : दादाजी और सब कुछ सह सकते हैं किसी का पृथक् होना नहीं सह सकते—'हम सब एक महान् पेड़ की डालियाँ हैं' वे कहा करते हैं, 'और इससे पहले कि कोई डाली टूटकर अलग हो, मैं ही इस घर से अलग हो जाऊँगा' और उन्होंने हम सबको समझाया कि हम आपका आदर करें, काम करें और आपको पढ़ने-पढ़ाने का समय दें।

बेला : पर मैं तो आदर नहीं चाहती और मैं तो तुम सबके साथ मिलकर काम करना चाहती हूँ।

इन्दु : यह कैसे हो सकता है भाभीजी ?

बेला : [दीर्घनिश्वास छोड़ती हुई] आप लोगों ने मुझे कितना गलत समझा और मैंने आप लोगों को कितना…

इन्दु : आप कैसी बातें करती हैं। लाइए, कपड़े लाइए। मैं दादाजी के कपड़े धोने जा रही हूँ, साथ ही आपके भी फटक लाऊं।

बेला : [चुप सोचती है]

इन्दु : भाभीजी…

बेला : (जैसे मन-ही-मन उसने किसी बात का निश्चय कर लिया हो।] मैं भी तुम्हारे साथ जाऊँगी, मैं भी तुम्हारे साथ कपड़े धोऊँगी।

इन्दु : दादाजी नाराज न होंगे…?

बेला : मैं दादाजी से कह दूँगी ;

इन्दु : भाभीजी…

बेला : मुझे केवल भाभी कहा कर, मेरी प्यारी इन्दु !

इन्दु : [प्यार से भरे हुए गले के साथ] भाभी !…

बेला : चल कपड़े धोएँ। धूप निकली जा रही।

इन्दु : पर कपड़े…

बेला : मेरे कपड़े आज रजवा ने धो दिये थे, सलवार कमीज ही तो थी। चल मैं तेरी सहायता करूँगी ।

[दोनों चली जाती हैं, कुछ क्षण बाद बरामदे में कपड़े धोने का शब्द आने लगता है । दादा गैलरी की ओर से हुक्का गुड़गुड़ाते मल्लू की अँगुली थामे प्रवेश करते हैं ।]

दादा : हाँ, बेटा ! तुम्हें मेले में ले चलेंगे । जो तू कहेगा, वही खिलौने ले देंगे ।

मल्लू : मैं तो उड़न-खटोला लूँगा ।

[सहसा दादा बाहर के दरवाजे के पास जाकर ठिठक जाते हैं ।]

दादा : [आश्चर्य से] हैं ! छोटी बहू···

इन्दु : बाहर से मैंने तो बहुतेरा कहा पर भाभी मानी नहीं ।

दादा : छोटी बहू, इधर आ बेटी ! शरमाई हुई बेला दरवाजे के पास आ खड़ी होती है] बेटा कपड़े धोना तुम्हरा काम नहीं । पढ़-लिखकर···

इन्दु : [अपनी भाभी के साथ ही आ खड़ी हुई] मैंने बहुतेरा कहा पर भाभी मानी···

दादा : [जिन्हें इंदु के स्वर का अनादर अच्छा नहीं लगा] इन्दु, तुझे इतनी बार कहा है कि आदर से···

बेला : [भावावेश के कारण रुँधे हुए कंठ से] दादाजी, आप पेड़ से किसी डाली का टूटकर अलग होना पसन्द नहीं करते, पर क्या आप यह चाहेंगे कि पेड़ से लगी-लगी वह डाल सूख कर मुरझा जांय···?

(सिसक उठती है, हुक्के की गुड़गुड़ाहट एकदम बंद हो जाता है ।)

[पर्दा सहसा गिर पड़ता है ।]

परिशिष्ट (अ)

लेखक परिचय

निबन्ध खण्ड

इस खण्ड के अन्तर्गत निबन्ध और लेख दोनों प्रकार की रचनाओं का संकलन किया गया है। साहित्य के विकास के साथ-साथ साहित्यालोचन की प्रक्रिया भी अधिक व्यापक और गम्भीर होती जा रही है, और धीरे-धीरे प्रमुख विधाओं के अन्तर्गत विभिन्न स्वरूपों का भेद भी स्पष्ट होता जा रहा है। सामान्य रूप से निबन्ध और लेख पर्यायवाची माने जाते हैं। किन्तु उनमें शैली और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से कुछ अन्तर है। जब कोई लेखक अपनी रुचि तथा आदर्श के अनुसार किसी विषय पर सांगोपांग दृष्टि से अपने विचार प्रकट करता है तो वह लेख लिखता है निबन्ध नहीं। लेख में व्यक्तित्व की अपेक्षा विषय और अध्ययन की प्रधानता होती है। लेख का प्रसार और उसकी प्रतिपादन शैली विषय के अनुसार ही होती है। लेखक अपना मत तो व्यक्त करता ही है, दूसरों के मतों का भी खण्डन-मण्डन करता चलता है। इस दृष्टि से लेख अंग्रेजी के 'Article' का पर्यायवाची है। यह कहना तो गलत होगा कि लेख लेखक के व्यक्तित्व से सर्वथा मुक्त होता है, क्योंकि अभिव्यंजना-शैली और विषय के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण कुछ न कुछ लेखक के व्यक्तित्व की छाप लिये रहते हैं। वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक और राजनीतिक विषयों पर सांगोपांग, क्रमबद्ध, स्पष्ट और सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन से युक्त विषयपरक रचनायें लेख ही होती हैं।

निबन्ध में विषय नहीं लेखक का व्यक्तित्व प्रधान होता है। निबन्ध रचना छोटे से छोटे और बड़े से बड़े किसी भी विषय पर हो सकती है। प्रसिद्ध

अंग्रेजी लेखक ए० जी० गार्डनर का तो मत है कि निबन्ध में विषय का कोई महत्व ही नहीं है, महत्व है तो केवल लेखक की अपने आपको व्यक्त करने की इच्छा का। विषय तो मात्र उपादान होता है। निबन्ध में विषय का सांगोपांग निरूपण नहीं होता वह मूल रूप से लेखक को अपने आपको व्यक्त करने का प्रयास मात्र होता है। निबन्ध आत्मपरक होता है। अतः उसकी शैली में आत्मीयता की स्निग्धता और बातचीत की सी स्वाभाविकता का होना आवश्यक है। हम लेख ज्ञानार्जन हेतु पढ़ते हैं, किन्तु निबन्ध पढ़ने का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन होता है। मनोरंजन के साथ-साथ यदि लेखक हमारे ज्ञान या दृष्टिकोण के विकास में भी सफल होता है तो यह ज्ञानवर्जन क्षमता उसकी अतिरिक्त उपलब्धि होती है।

१—बाल कृष्ण भट्ट :—(सन् १८४४-१९१४) भट्ट जी का जन्म और शिक्षा प्रयाग में हुई। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। भारतेन्दु युग के लेखकों में भट्ट जी का स्थान भारतेन्दु जी के बाद ही आता है। आधुनिक हिन्दी गद्य के विकास में इनका महत्वपूर्ण योग है। ये "हिन्दी प्रदीप" के सम्पादक थे। इनके पत्र में सरल और गंभीर दोनों प्रकार के निबन्ध प्रकाशित होते थे। स्वयं भट्ट जी ने सामयिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विषयों पर निबन्ध लिखे। मनोभावों से संबंधित विषयों पर लिखे गये उनके निबन्ध उच्च कोटि के हैं। इन निबन्धों में गंभीरता, मननशीलता और विवेचना के साथ साथ हास्य और व्यंग्य का भी पुट है। भाषा की द्रष्टि से वे विशुद्धतावादी नहीं थे। और संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू तथा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है। उनके वाक्य कुछ बड़े किन्तु प्रभावपूर्ण और विषयानुकूल हैं। उनकी शैली में व्यंग्य, वक्रता और आत्मीयता है।

२—श्री रामदास गौड़ :—(सन् १८८१-१९३७) गौड़ जी का जन्म जौनपुर में और शिक्षा बनारस तथा इलाहाबाद में हुई। विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में आप रसायनशास्त्र के अध्यापक रहे। आप स्त्री शिक्षा के पक्षपाती थे और इस विषय पर पत्र-पत्रिकाओं में निबन्ध लिखते थे।

निवन्धकार के रूप में श्री "रामदास गौड़" द्विवेदी युग के लेखकों में प्रमुख थे। हिन्दी के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों पर लिखने का कार्य आपने आरम्भ किया। आपने बडे प्रयत्न से प्रयाग में विज्ञान परिषद की स्थापना की। इस संस्था का 'विज्ञान' नामक एक मुख पत्र भी था। इस पत्र के लिये गौड़ जी वड़े प्रयत्न से सामग्री एकत्रित करते थे। द्विवेदी युग में जब विज्ञान का अध्ययन-अध्यापन केवल अंग्रेजी माध्यम से ही होता था आपने हिन्दी में वैज्ञानित विषयों पर लेखन कार्य की नींव डाली।

संकलित निवन्ध में डारविन के विकासवाद की व्याख्या है, किन्तु लेखक ने केवल वैज्ञानिक निष्कर्षों का ही वर्णन नहीं किया अपितु भारतीय दर्शन से उनके समन्वय की चेष्टा भी की है।

३—पंडित रामचन्द्र शुक्ल :—(सन् १८८४-१९४०) शुक्ल जी का जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक गांव में हुआ था। आपकी शिक्षा इण्टर तक ही हो सकी किन्तु आपने घर पर हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और अंग्रेजी का गहन अध्ययन और अनुशीलन किया। शुक्ल जी निवन्धकार के अतिरिक्त समीक्षक और इतिहास लेखक भी थे। निवन्धकार के रूप में उन्होंने भावात्मक और समीक्षात्मक दोनों प्रकार के निबन्धों की रचना की। उनकी भाषा संस्कृतमय किन्तु व्यंग्य और हास्य प्रस्तुत करते समय उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों से युक्त है। गाम्भीर्य उसका विशेष गुण है। शब्द नपे-तुले और उपयुक्त हैं। वाक्य साधारणतया छोटे और सूत्र रूप हैं, किन्तु विचारों के स्पष्टीकरण के लिये उन्होंने बड़े-बड़े वाक्यों का भी प्रयोग किया है।

४—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—(सन् १९०७—) द्विवेदी जी का जन्म वलिया जिले के "दुबे का छपरा" नामक गाँव में हुआ। १९३० में उन्होंने काशी हिन्दू विश्व विद्यालय से ज्योतिषाचार्य और इण्टर की परीक्षायें पास कीं। उसी वर्ष प्राध्यापक होकर वे "शान्ति निकेतन" चले गये। १९४९ में लखनऊ विश्व विद्यालय ने डी० लिट० की सम्मनार्थ उपाधि देकर आपके द्वारा की गई हिन्दी की सेवाओं की सराहना की।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आज के प्रमुख गद्य लेखक हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के अध्ययन से निकले हुये निष्कर्षों के प्रकाश में आधुनिक जीवन की विविध समस्याओं का विवेचन किया है। उनके निबन्धों में विचारों और भावों का सुन्दर समन्वय है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ किन्तु सरल और प्रवाहमयी है।

५—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—(सन् १९०४-१९६८) डा० अग्रवाल प्रसिद्ध इतिहास मर्मज्ञ और लेखक थे। साहित्य और पुरातत्व के प्रकाश में आपने प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आपने भाषा शास्त्रीय शोध कार्य भी किया था।

आपके निबन्धों में भारतीय संस्कृति और दर्शन का आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से सुन्दर समन्वय है। आपकी भाषा गंभीर होते हुये भी प्रांजल, स्पष्ट और भावपूर्ण है। आपकी शैली पर गंभीर अध्ययन की छाप है और उसमें अद्भुत हृदयग्राही उन्मेष है।

६—डा० रामरतन भटनागर—डा० भटनागर सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापन कार्य करते हैं। हिन्दी साहित्य विषयक आपके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक एवम् वैज्ञानिक विषयों पर सरल और रोचक शैली में लिखे गये आपके निबन्ध समय समय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आपकी भाषा सरल किन्तु परिष्कृत है। शैली की दृष्टि से आपकी रचनायें निबन्ध की अपेक्षा लेख के अधिक निकट है।

७—डा० विद्यानिवास मिश्र—(सन् १९२६—) डा० मिश्र सम्प्रति वाराणषेय संस्कृत विश्वविद्यालय में भाषा विभाग के आचार्य हैं। संस्कृत और भाषा विज्ञान का आपने गंभीर अध्ययन किया है। हिन्दी गद्य की भावपूर्ण निबन्ध विद्या के विकास में आपका महत्वपूर्ण योगदान है। आपने सामान्य और गम्भीर विषयों पर समान रूप से प्रभावशाली, ललित, भावपूर्ण निबन्ध लिखे हैं। अभी तक आपके अनेक निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

मिश्र जी की भाषा संस्कृतनिष्ठ और काव्य का लालित्य लिये हुये है। संकलित निवन्ध में उन्होंने अत्यन्त गम्भीर किन्तु रोचक ढंग से खजुराहो की स्थापत्य कला को प्राणवान और सार्थक करने वाले जीवन दर्शन की विवेचना की है।

८—**श्री हरिशंकर परसाई**—(सन् १९२४—) जवलपुर निवासी परसाई जी नवयुवक लेखकों में अग्रणी हैं। आधुनिक हिन्दी के गिने-चुने व्यंग्यकारों में आप सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। व्यंग्य और हास्य का पुट होते हुये भी आपकी रचनाओं में शिष्टता और गम्भीरता है। व्यंग्य लेखन के रूप में हिन्दी गद्य की एक महत्वपूर्ण विधा के विकास में आपका महत् योगदान है।

संकलित निबन्ध में एक सामान्य विषय को लेकर आपने हमारे सामाजिक जीवन की विभिन्न कमजोरियों पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है। निबन्ध की भाषा परिष्कृत और प्रवाहमयी है। वाक्य संतुलित और प्रभावशाली हैं। शिष्ट हास्य के साथ व्यंग्य का मिश्रण करके आपने दोनों को ही उद्देश्यपूर्ण बना दिया है। सामाजिक जीवन के परिष्कार में इस प्रकार के हास्य व्यंग्य का बड़ा महत्व है।

कहानी—खण्ड

९—**श्री जयशंकर प्रसाद**—(सन् १८८९-१९३७) काशी के एक प्रतिष्ठित और धनी वैश्य घराने में प्रसाद जी का जन्म हुआ था। आरंभिक शिक्षा घर पर तथा क्वीन्स कालेज में आठवीं कक्षा तक हुई। इसके पश्चात् घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया। प्रसाद जी छायावाद के प्रमुख उन्नायक थे। वे कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार और निबन्धकार थे। अपनी बहुमुखी प्रतिभा से उन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया।

प्रसाद जी की कहानियां भावपूर्ण और चरित्र तथा वातावरण प्रधान हैं। 'देवरथ' जैसी कहानी प्रसाद जी ही लिख सकते थे। क्योंकि मनुष्य के हृदय की सूक्ष्म गति विधियों से तो वे कवि के रूप में परिचित ही थे, अतीत को भी

उनकी कल्पना शक्ति वर्तमान बना देती थी। 'देवरथ' की कथा वस्तु बौद्ध धर्म के ह्रास युग की है। धर्म की ओट में अधर्म का चक्र चलना आरम्भ हो गया था। बौद्ध मठों में व्याप्त भ्रष्टाचार का जीवन्त चित्र हमें इस कहानी में मिलता है। कहानी की नायिका सुजाता इसी कुचक्र का शिकार होती है। उसका प्रेमी आर्यमित्र उससे विवाह कर उसका उद्धार करना चाहता है। परन्तु सुजाता की अपनी विवशता है। उसका सतीत्व नष्ट हो चुका है अतः वह जीवन का अन्त ही श्रेयस्कर समझती है।

१०—प्रेमचन्द—(सन् १८८०-१९३६)—मुन्शी धनपतराय 'प्रेमचन्द' का जन्म बनारस से पांच छः मील दूर लमही नामक ग्राम में हुआ। इनका सम्पूर्ण जीवन निर्धनता एवम् कष्ट में बीता। सन् १९१९ में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। प्रेमचन्द्र पहले उर्दू में लिखते थे। पंडित मन्नन द्विवेदी की प्रेरणा से उन्होंने हिन्दी में भी लिखना आरम्भ किया।

प्रेमचन्द्र को लगातार वादों के घेरे में बांधने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उनकी बहुमुखी प्रतिभा सदा उनसे ऊपर उठी रही है। वे पूर्णरूपेण मानवतावादी थे और यथार्थ जीवन को आधार बना कर उन्होंने मानव चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। व्यक्ति प्रयत्न करके आदर्शवाद का लवादा भले ही ओढ़ ले किन्तु जब तक उसके अहम् का वास्तविक परिष्कार और उदात्ती-करण नहीं हो जाता वह आदर्शों को व्यावहारिक रूप नहीं दे पाता। उसका अहम् और उसकी कुंठाये बार-बार उसे आदर्शों के प्रतिकूल आचरण की ओर खींचती है। 'नशा' कहानी में इसी सत्य का निर्देशन है। कथनी और करणी के व्यतिरेक में पड़ा हुआ कहानी का नायक विदूषक की भांति हास्यास्पद बन जाता है।

११—श्री भगवती चरण वर्मा—(सन् १९०३—) प्रयाग निवासी श्री भगवती चरण वर्मा की शिक्षा बी० ए०, एल एल बी० तक प्रयाग विश्व विद्यालय में हुई। साहित्यकार के रूप में वर्मा जी की प्रतिभा बहुमुखी है। आप

कवि, उपन्यासकार, कथाकार, नाटककार और पत्रकार सभी रूपों में विख्यात रहे हैं। विशेष सफलता आपको उपन्यास के क्षेत्र में मिली है।

जीवन में समस्यायें, संघर्ष और वाद-विवाद तो हैं ही किन्तु जीवन की सार्थकता कुछ हद तक निश्चित होकर बैठकर मनोरंजन करने में भी है। विशुद्ध गल्प के रूप में कहानी इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है। 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' में हास्य है, व्यंग्य है, कुछ सीमा तक कथा तत्व भी है किन्तु उसका सबसे अधिक आकर्षक तत्व है, उसमें अन्तर्निहित गप्प की मनोरमता।

१२—जैनेन्द्र—(सन् १९०५—) श्री जैनेन्द्र का जन्म कौड़ियागंज, अलीगढ़ में हुआ। उनकी उच्च शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आरम्भ हुई। सन् १९२१ में उन्होंने विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़ दी। हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में जैनेन्द्र ने सन् १९२९ में प्रवेश किया। इसी वर्ष इनका लघु उपन्यास 'परख' प्रकाशित हुआ। जैनेन्द्र उपन्यासकार, कहानीकार और विचारक तीनों रूपों में प्रसिद्ध हैं। जैनेन्द्र ने कथा के क्षेत्र में मनोविश्लेषण का आरम्भ किया और तदनुरूप भाषा और शैली का भी मौलिक रूप प्रस्तुत किया। जैनेन्द्र की परवर्ती कहानियों पर गैस्टाल्टवादी मनोविज्ञान और भारतीय दर्शन की छाप है। "तत्सत्" इसी कोटि की कहानी है। व्यक्ति की सभी समस्याओं का समाधान आत्म-ज्ञान के साथ-साथ समष्टि के साथ तादात्म्य पर निर्भर करता है। जीवन की सार्थकता व्यक्तिगत अहम् को समष्टिगत सत्य में लुप्त कर देने में ही है। यह सत्य "तत्सत" की मूलसंवेदना है, जिसे प्राचीन पंच-तंत्र की कथा शैली में कथाकार ने प्रस्तुत किया है।

१३—अज्ञेय—(सन् १९११—) श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म गोरखपुर में कसिया नामक स्थान पर हुआ। सन् १९२९ में बी०एस-सी० की परीक्षा पास कर डेढ़ वर्ष तक आपने एम०ए० में अंग्रेजी पढ़ी। फिर क्रांतिकारी आन्दोलन में गिरफ्तार होकर जेल चले गये। सन् १९२४ में इनकी पहली कहानी इलाहाबाद की स्काउट पत्रिका 'सेवा' में छपी। जेल में

बहुत सी कहानियाँ तथा कवितायें लिखी, जो सन् १९३२ से पत्र-पत्रिकाओं में लगातार छपी अब तक १०० के लगभग कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। कहानीकार के अतिरिक्त 'अज्ञेय' उपन्यासकार, कवि, आलोचक और पत्रकार भी हैं।

'अज्ञेय' नयी कहानी और नई कविता के सूत्रधार माने जाते हैं। 'रोज' कहानी में आधुनिक जीवन की रसहीन यांत्रिकता का चित्रण है। आधुनिक जीवन से स्वस्थ विनोद बौद्धिक मनोरंजन, यहाँ तक कि जीवन के प्रति ललक भी समाप्त हो गई है। उद्देश्यहीन व्यस्तता का भार कंधों पर लादे मनुष्य किसी प्रकार जी रहा है। न तो उसके जीवन में कोई उतार-चढ़ाव है और न कोई रसबोध।

१४—फणीश्वर नाथ "रेणु"—फणीश्वर नाथ "रेणु" नये खेवे के कहानीकारों और उपन्यासकारों में गिने जाते हैं। उनकी ख्याति "मैला आँचल" नामक उपन्यास से आरम्भ हुई। "परती परी कथन" ने आँचलिक उपन्यास के क्षेत्र में उनकी धाक जमा दी। तब से फणीश्वर नाथ "रेणु" की कहानियाँ और उपन्यास लगातार प्रकाशित होते रहे हैं। रेणु की शैली मूल रूप से रोमान्टिक है किन्तु उनका रोमान्टिसिज़्म सदैव यथार्थ के आवरण में रहता है। ऊपर से सब कुछ यथार्थ सा लगने पर भी उनको कहानियां और उपन्यासों में सर्वत्र एक रोमान्टिक छायाभास सा मिलता है। कहीं-कहीं यह रोमान्टिक सूत्र अति भावुकतापूर्ण और कहीं-कहीं सहज और प्रौढ़ है। "रेणु" ने आंचलिक भाषा, आंचलिक वातावरण, आंचलिक चरित्र और आंचलिक लोक कथाओं, अन्ध विश्वासों तथा मान्यताओं का ही समावेश अपने कथा साहित्य में किया है। आंचलिकता का तात्पर्य क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित है। कहीं-कहीं आंचलिकता का आग्रह इतना अधिक बढ़ गया है कि भाषा और विचार दोनों ही अस्वाभाविक से लगने लगते हैं।

"लाल पान की बेगम" रेणु जी की प्रसिद्ध कहानी है। इसमें एक ग्रामीणा की अपने आप को बड़ा और प्रतिष्ठित सिद्ध करने की लालसा का

सुन्दर विश्लेषण है ! "विरजू" की मां के अहम् को जब भी ठेस लगती है तो वह पड़ोसियों के प्रति अनुदार हो जाती है। उन्हें अनावश्यक ताने देती है और व्यर्थ की गाली-गलोज भी करती है; किन्तु बड़े घर की स्त्रियों की भाँति गाड़ी में बैठकर मेला जाने की इच्छा पूर्ण हो जाने पर वही विरजू की माँ उदारता पूर्वक सभी पड़ोसिनों को अपनी गाड़ी में बैठा लेती है और खुशी-खुशी उनके साथ मेला जाती है।

१५—डा० ऊषा प्रियंवदा—फणीश्वर नाथ "रेणु" यदि पुरानी और नई कहानी के बीच की कड़ी हैं तो डा० ऊषा प्रियंवदा पूरी तरह से नई कहानी का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनकी कहानियों में नया भावबोध और नई शैली के साथ-साथ हृदयग्राही कथातत्व भी मिलता है। इस प्रकार उनकी कहानियाँ नयेपन के अतिरेक से बची हुई हैं, और निरन्तर संख्या में बढ़ती रहकर भी अभी वे तथाकथित "कहानी" का रूप नहीं ले पाई हैं।

"वापसी" में एक निम्न मध्य वर्ग के परिवार का भावात्मक तनाव चित्रित किया गया है। पुरानी और नई पीढ़ी के बीच एक घुटा हुआ सा द्वन्द्व है जो कभी भड़कता नहीं केवल हल्के-हल्के सुलगता रहता है और एक प्रकार से परिवार के सदस्यों को एक दूसरे से बिल्कुल अपरिचित सा बना देता है। इसका बड़ा ही मर्म-स्पर्शी चित्रण इस कहानी में हमें मिलता है।

एकांकी—खण्ड

१६—डा० रामकुमार वर्मा—डा० वर्मा का जन्म मध्य प्रदेश के सागर जिले में सन् १६०५ में हुआ। आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया। नागपुर विश्वविद्यालय से आपको शोध कार्य पर डाक्टरेट प्राप्त हुई। आप बहुत दिनों तक प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापन करते रहे।

डा० वर्मा हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि, एकांकी नाटककार एवम् आलोचक हैं। नाटककार के रूप में आपकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता सर्वाधिक है। अनेक दृष्टियों से डा० वर्मा आधुनिक हिंदी एकांकी के जनक कहे जा सकते हैं।

इनका पहला एकांकी नाटक सन् १६३० में "विश्व मित्र" में प्रकाशित हुआ था। तब से लेकर आज तक आपने अनेक एकांकियों की रचना की है।

"चारुमित्रा" डा० वर्मा का प्रसिद्ध एतिहासिक एकांकी है। इसका कथानक सम्राट अशोक की कलिंग विजय पर आधारित है। नाटक में सफलतापूर्वक तत्कालीन वातावरण की सृष्टि की गई है। नाटक में तीन प्रमुख पात्र हैं—चारुमित्रा, अशोक और तिष्यरक्षिता। तीनों का ही चरित्र चित्रण सफलतापूर्वक किया गया है। नाटक की नायिका "चारुमित्रा" है, जिसके वलिदान से अशोक का हृदय-परिवर्तन होता है। "चारुमित्रा" की स्वामी-भक्ति और देश भक्ति दोनों ही श्लाघनीय हैं।

१७—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क—अश्क जी का जन्म जालंधर में सन् १६१० में एक मध्य वर्गीय व्राह्मण परिवार में हुआ। जालंधर से ही इन्होंने १६३१ में बी० ए० और १६३६ में लॉ पास किया। अश्क की आरम्भिक रचनायें उर्दू में थीं। सन् १६३५ से आपने हिन्दी में लिखना शुरू किया और कहानी, उपन्यास, निवन्ध, लेख, संस्मरण, आलोचना नाटक और एकांकी के अतिरिक्त कविता के क्षेत्र में भी कार्य किया। अश्क को सर्वाधिक प्रसिद्धि एकांकी नाटककार के रूप में ही प्राप्त हुई। अभी तक आपके अनेक एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अश्क जी के अधिकांश एकांकी, सामाजिक और हास्य व्यंग्य प्रधान हैं।

"सूखी डाली" अश्क का प्रसिद्ध एकांकी है। संयुक्त पारिवारिक जीवन के आन्तरिक तनाव का सुन्दर निरूपण इस एकांकी में हुआ है। नाटककार के अनुसार इस तनाव का निराकरण पारस्परिक सहृदयता और प्रेम के द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार इस नाटक में समस्या का निरूपण मात्र ही नहीं है नाटककार ने नाटक के चरित्रों के माध्यम से समस्या का समाधान भी सुझाया है।

———

परिशिष्ट (ब)

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल
२—हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
३—हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास	डा० गणपति चन्द्र गुप्त
४—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० कृष्ण शंकर शुक्ल
५—हिन्दी साहित्य कोष (२ भाग)	डा० धीरेन्द्र वर्मा आदि (ज्ञानमण्डल)
६—आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
७—हिन्दी गद्य शैली का विकास	डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
८—हिन्दी गद्य मीमांसा	पं० रमाकान्त त्रिपाठी
९—हमारे साहित्य निर्माता	पं० शान्ति प्रिय द्विवेदी
१०—कहानी कला	विनोदशंकर व्यास
११—कहानी कला	डा० सत्येन्द्र
१२—हिन्दी साहित्य में निबन्ध	डा० ब्रह्मदत्त शर्मा
१३—हमारे गद्य निर्माता	डा० प्रेम नारायण टण्डन
१४—कहानी	श्री शिवदान सिंह चौहान
१५—हिन्दी गद्य	डा० रामरतन भटनागर
१६—हिन्दी गद्य निर्माता	डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
१७—नाटक की परख	डा० एस०पी० खत्री
१८—कहानी कला और उसका विकास	पं० छविनाथ पाण्डेय
१९—हिन्दी गद्य और उसकी शाखायें	श्री प्रभुनारायण
२०—हिन्दी एकांकी और एकांकीकार	डा० प्रेमनारायण टंडन
२१—हिन्दी गद्य साहित्य	श्री शिवदान सिंह चौहान
२२—हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार	श्री जयनाथ 'नलिन'
२३—हिन्दी एकांकी	डा० सत्येन्द्र
२४—शैली	पं० करुणापति त्रिपाठी

२५—हिन्दी में समस्या नाटक	श्री गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव
२६—हिन्दी गद्य और उसकी शैलियों	श्री रामगोपाल सिंह चौहान
२७—आधुनिक हिन्दी नाटक	डा० नगेन्द्र
२८—काव्य के रूप	श्री गुलाव राय
२९—साहित्य रूप	डा० रामअवध द्विवेदी
३०—वांमय विमर्श	पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३१—शैली और कौशल	पं० सीताराम चतुर्वेदी
३२—हिन्दी एकांकी-उद्भव और विकास	डा० रामचरण महेन्द्र
३३—हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास	डा० दशरथ ओझा
३४—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	श्री सोमनाथ गुप्त
३५—हिंदी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन	डा० ब्रह्मदत्त शर्मा
३६—नाट्य शास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक	डा० पृथ्वीनाथ द्विवेदी और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
३७—कहानी का रचना विधान	डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
३८—आधुनिक हिन्दी कहानी	डा० लक्ष्मीनारायण लाल
३९—हिन्दी गद्य का विकास	श्री गुलाबराय, जैनेन्द्र कुमार भट्ट
४०—हिन्दी कहानी की रचना प्रक्रिया	डा० परमानन्द
४१—निवन्ध साहित्य की प्रमुख समस्यायें	डा० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी
४२—साहित्य के तत्व	डा० गणपति चन्द्र गुप्त
४३—हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान	डा० देवराज उपाध्याय
४४—कहानी-नई कहानी	डा० नामवरसिंह
४५—नई कहानी की मूल संवेदना	डा० सुरेश सिन्हा
४६—आधुनिक कहानी का परिपार्श्व	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
४७—नव्य हिन्दी नाटक	डा० सावित्री स्वरूप
४८—हिंदी एकांकी की शिल्प विधि का विकास	डा० सिद्धनाथ कुमार
४९—हिंदी कहानी की शिल्प विधि का विकास	श्री लक्ष्मीनारायण लाल
५०—कहानी एक कला	डा० गिरधारी लाल

———

विश्वविद्यालय प्रकाशन

	पुस्तक का नाम	परीक्षा	प्रकाशक
१.	सामान्य हिन्दी संकलन भाग १	बी. ए., बी. एस-सी., बी. काम.	पुस्तक निकेतन, रीवां
२.	सामान्य हिन्दी संकलन भाग २	बी. ए., बी. एस-सी., बी. काम.	प्रकाश प्रेस, सतना
३.	सामान्य हिन्दी संकलन भाग ३	बी. ए., बी. एस-सी., बी. काम.	सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद-२
४.	कविता संग्रह	बी. ए. भाग १	पुस्तक भवन, रीवा
५.	निबन्ध संग्रह	बी. ए. भाग १	भैया लाल एण्ड सन्स रीवा
६.	कहानी संग्रह	बी. ए. भाग १	ज्ञानोदय प्रकाशन, रायपुर
७.	एकांकी संग्रह	बी. ए. भाग २	रामनारायणलाल बेनी प्रसाद इलाहाबाद-२
८.	प्राचीन एवं मध्य युगीन काव्य-संग्रह	बी. ए. भाग २ व ३	रामनारायणलाल बेनी प्रसाद इलाहाबाद-२
९.	आधुनिक कविता संग्रह	बी. ए. भाग २ व ३	प्रकाश प्रेस, सतना
१०.	निबन्ध संग्रह	बी. ए. भाग ३	ज्ञानोदय प्रकाशन, रयपुर

विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम

१.	बी. ए.	प्रकाश प्रेस, सतना
२.	बी. एस-सी.	आदर्श प्रकाशन, सतना
३.	बी. काम.	आदर्श प्रकाशन, सतना
४.	एम. ए.	सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद-२
५.	एम. एस-सी.	प्रकाश प्रेस, सतना
६.	एम. काम.	प्रकाश प्रेस, सतना
७.	एल-एल. बी.	सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद-२
८.	बी. ई.	पुस्तक भवन, रीवा
९.	एम. बी. बी. एस.	पुस्तक भवन, रीवा